चितेरों के महावीर

डॉ प्रेम सुमन जैन
सहायक प्रोफेसर : प्राकृत
संस्कृत विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय

अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव पर प्रकाशित :

श्री अमर जैन साहित्य संस्थान का १६वां पुष्प

कृति : चितेरों के महावीर (उपन्यास)

लेखक : डॉ० प्रेम सुमन

भूमिक : श्री गणेश मुनि शास्त्री

प्रकाशक : मन्त्री, अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर

प्रथम आवृत्ति : अप्रेल १९७५

मूल्य : छह रुपए

प्राप्ति स्थान : श्री हरिसिंह चौधरी

प्रबन्धक : अमर जैन साहित्य संस्थान
एम. जे. एम. कोर्ट
गुलाबपुरा (भीलवाड़ा)
राजस्थान

मुद्रक : मनोज प्रिन्टर्स
गोदीकों का रास्ता, किशनपोल बाजार
जयपुर–३०२००३

CHITERON KE MAHAVIRA (Novel)
By
Dr. PREM SUMAN

प्रकाशकीय

वर्तमान युग में प्रेम और शान्ति के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि मानव भगवान महावीर के जीवन-दर्शन को अपने जीवन में उतारे। महावीर की जीवन-गाथा जितनी प्रेरणास्पद है, उतनी ही सरस। उनके जीवन को साहित्य की विभिन्न विधाओं में अनेक ग्रन्थों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उपन्यासिक शैली में एक-दो रचनाएं ही प्रकाश में आयी हैं। हमें प्रसन्नता है कि महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष पर संस्थान द्वारा हम एक ऐसा उपन्यास प्रकाशित कर रहे हैं जिसमें भगवान महावीर के बहु-आयामी व्यक्तित्व का प्रथम बार उद्घाटन हुआ है।

'चितेरों के महावीर' एक ऐसी कृति है जिसमें श्रमण-परम्परा, महावीर का सम्पूर्ण जीवन तथा उनके उपदेशों को सरस और सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है। इस कृति के विद्वान् लेखक डॉ० प्रेम सुमन जैन जैनविद्या और भारतीय संस्कृति के जाने-माने मनीषी हैं। आपकी प्रतिभा कई रूपों में उभर कर सामने आयी है। प्राकृत भाषा व साहित्य के उन्नयन में डॉ० सुमन से कई आशाएं हैं। प्रस्तुत उपन्यास पर उन्हें जैन ट्रस्ट कलकत्ता की ओर से पुरस्कृत किया गया है। आशा है, आपकी अन्य पुस्तकें भी साहित्य और शिक्षा जगत् में इसी आदर के साथ अपनायी जायेंगी।

प्रस्तुत कृति श्रद्धेय श्री गणेश मुनिजी शास्त्री को इतनी पसन्द आयी कि उन्होंने न केवल इसकी भूमिका लिख देने की कृपा की, अपितु इसके प्रकाशन के लिए भी हमें प्रेरित किया। उनकी इस अनुकम्पा के लिए हम आभारी हैं कि उन्होंने हमें एक उत्कृष्ट कृति पाठकों के समक्ष लाने का अवसर प्रदान किया। श्री मुनिजी स्वयं एक अच्छे साहित्यकार एवं विद्वान् साधक हैं। उनकी कलापारखी दृष्टि का उदाहरण है—'चितेरों के महावीर' का प्रकाशन।

'चितेरों के महावीर' जिस पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है तदनुसार इसमें हम कुछ रेखाचित्र भी देना चाहते थे। किन्तु प्रकाशन की शीघ्रता के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी मुद्रण की दृष्टि से इसकी जो साज-सभार की गयी है उसके लिए भाई श्री महेशजी का प्रयास सराहनीय है। इस कृति के प्रकाशन में अर्थ-सहयोग देने वाले उदारमना महानुभावों के हम आभारी हैं, जिनके सहयोग से यह कृति शीघ्र पाठकों के हाथों में पहुंच रही है। आशा है, सभी क्षेत्रों में इस कृति का अनुरूप स्वागत होगा।

मन्त्री

अमर जैन साहित्य संस्थान

भूमिका

भगवान महावीर इतिहास का एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिससे दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैनिक क्षेत्र निरन्तर प्रभावित होते रहे हैं। न केवल भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में महावीर का व्यापक प्रभाव है, अपितु भारतीय शिल्प में भी महावीर के जीवन-दर्शन की अनेक छवियां अंकित हैं। महावीर के जीवन-दर्शन की निष्पत्ति अहिंसा है। समभाव की प्रतिष्ठा। आत्म-ज्ञान की उपलब्धि। महावीर ने जीवन के समग्र विकास के लिए समाज को एक नयी आचार-संहिता दी है। व्यक्ति के स्वत्व की प्रतिष्ठा की है। महावीर की इन समस्त उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में उनके व्यक्तित्व को उजागर किया जाना नितान्त आवश्यक है।

इस वर्ष भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव पर देश-व्यापी कार्यक्रम हो रहे हैं। विपुल साहित्य प्रकाशित हुआ है। महावीर के जीवन एव उपदेशों का अनुशीलन करने वाले छोटे-बड़े कई ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। उनमें प्रबन्ध-शैली के ग्रन्थ हैं और काव्य भी। किन्तु उपन्यास विधा में महावीर के जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने वाली 'चितेरों के महावीर' अपने ढंग की सर्वप्रथम कृति है। डॉ० प्रेम सुमन जैन द्वारा १९७२ में लिखा यह उपन्यास पाठकों के सामने अब आ रहा है, जबकि श्री वीरेन्द्रकुमार जैन का बृहत् उपन्यास 'अनुत्तरयोगी तीर्थङ्कर महावीर' भी प्रकाशित हो चुका है।

'चितेरों के महावीर' के लेखक डॉ० प्रेम सुमन जैन युवा साहित्यकार हैं। पालि, प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं व साहित्य के अध्ययनशील विद्वान्

होते हुए भी डॉ० सुमन की साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों में भी अभिरुचि है। उनकी इसी मेधा का प्रतिफल है—प्रस्तुत कृति। महावीर-कथा। महावीर-दर्शन।

प्रस्तुत कृति कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी तथ्यों को इस कृति में संजोया गया है। परम्परागत मतभेदों को लेखक ने बड़ी कुशलता से उपस्थित किया है। उनके मूल तक जाने का प्रयत्न किया है। महावीर के बहु-आयामी व्यक्तित्व को लेखक ने विभिन्न घटनाओं, प्रसंगों एवं मान्यताओं में छिपे प्रतीकों के माध्यम से उजागर किया है। अतः इस लघु कृति में प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों की प्रामाणिकता है तथा चिन्तन की स्वतन्त्रता भी। दोनों के प्रस्तुतीकरण में महावीर साक्षी रहे हैं।

महावीर के दर्शन को इस कृति में सुन्दर ढंग से नियोजित किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र की अभिव्यक्ति ही है महावीर का सम्पूर्ण जीवन। उपन्यास में लेखक ने आचार्य कश्यप और उनके जिज्ञासु शिष्यों की अवधारणा द्वारा विषय की गम्भीरता और रोचकता दोनों में सामन्जस्य बनाये रखा है। महावीर के प्रति भारतीय कलाकारों की अर्चना तथा साधक आचार्यों व शिष्यों की सामायिक है यह कृति। अतः 'चितेरों के महावीर' उन सबके महावीर बन जाते हैं, जो उन्हें अपने चित्त में अंकित करने के लिए आतुर हैं। प्रयत्नशील।

अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर द्वारा अभी तक जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, वह आध्यात्म एवं काव्य रस से परिपूर्ण है। सौभाग्य से 'चितेरों के महावीर' भी ऐसी ही कृति है। संस्थान ने इसका प्रकाशन कर अपने पाठकों के स्वाध्याय के लिए एक महनीय अवसर प्रदान किया है।

वर्तमान युग में जीवन-मूल्यों व नैतिक आचरण की जिस प्रतिष्ठा की आवश्यकता है वह रोचक शैली में लिखे गये असाम्प्रदायिक प्रेरणाप्रद साहित्य से ही पूरी हो सकती है। इधर कुछ लेखक इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। डॉ० सुमन की यह कृति ऐसे ही चिन्तन और प्रयास का फल है। मेरी उन्हें

हार्दिक बधाई। श्री जैन ट्रस्ट कलकत्ता द्वारा अ० भा० प्रतियोगिता में डॉ० सुमन की यह कृति डेढ़ हजार रुपयों के पुरस्कार से पुरस्कृत हुई है। आशा है कि अधिक से अधिक पाठकों द्वारा यह समादृत भी होगी।

ब्यावर गणेश मुनि शास्त्री

१३ अप्रेल, १९७५

• •

दो शब्द

श्रमण-परम्परा के २४वें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के सम्बन्ध में परम्परा से जो सुना, प्राचीन ग्रन्थों में जो पढ़ा तथा आधुनिक विचारकों द्वारा की गयी महावीर के जीवन के प्रसंगों की व्याख्या से जो कुछ मेरा जिज्ञासु मन ग्रहण कर सका उस सबके मन्थन का नवनीत है प्रस्तुत कृति। महावीर की दृष्टि सत्यान्वेषी एवं अनाग्रहपूर्ण थी। अतः उसी का अनुसरण करते हुए इस पुस्तक में उन प्रसंगों को भी नवीन व्याख्या के साथ रख दिया गया है, जिनके सम्बन्ध में परम्परागत मतभेद हैं। इस अपेक्षा के साथ कि महावीर की पावन गाथा के अनुशीलन में चिन्तन और अधिक गतिशील हो। उस परम आत्मा का स्वरूप निरन्तर उजागर हो।

प्रस्तुत कृति की शैली क्या है, इसका निर्णय समीक्षक करेंगे। अपनाया इसे इसलिए गया है कि पाठक महावीर के चरित एवं उनके आत्मबोधक उपदेशों में न केवल रुचि लें, अपितु उनके प्रभावों का भी अनुभव करें। शिल्पी-संघ का एक सदस्य या कलाकार होकर। प्रश्नोत्तर का संयोजन इसलिए कि बोधगम्य सम्प्रेषण बना रहे। स्वतन्त्र-चिन्तन अवरुद्ध न हो। कृति में तथ्यात्मकता, सत्य के प्रति निष्ठा एवं औपन्यासिक रसात्मकता बनी रहे इसे महेजा गया है। आचार्य कश्यप की कुल-परम्परा एवं उदयगिरि की उपत्यका सम्पूर्ण कथा की साक्षी के रूप में उपस्थित है। अच्छा होता यदि कोई चित्रकार वे रेखाचित्र भी उकेर सकता, जिनकी परिकल्पना इस उपन्यास में आदि से अन्त तक की गयी है। किन्तु प्रकाशन की शीघ्रता के कारण यह सम्भव नहीं हुआ।

कृति का वातावरण प्राचीन होते हुए भी अर्वाचीन उपलब्धियों से अज्ञात नहीं है। इसीलिए आचार्य कश्यप वह सब कुछ कह सके जो आज तक महावीर

के सम्बन्ध में कहा गया एवं कहा जा सकता है। भाषा एवं काल के बन्धनों से वे इसलिए मुक्त हैं, क्योंकि जिनकी कथा के वे साक्षी हैं वे महावीर सर्वथा मुक्त हैं। पाठक व श्रावक की स्वतन्त्रता उनकी रुचि-सम्पन्नता पर निर्भर है।

शैली की सरलता और रोचकता के कारण कृति को उदाहरणों से मुक्त रखा गया है। यद्यपि कथावस्तु के विषय एवं प्रतिपादन की भूमिका में प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों व चिन्तकों की कृतियां भी रही हैं। उन सबके लेखकों व सम्पादकों का मैं आभारी हूँ।

'चितेरों के महावीर' की विषयवस्तु को शैली-भिन्नता के कारण अध्यायों आदि में विभक्त नहीं किया गया है। शीर्षक स्वतन्त्र भी लग सकते हैं, क्रमबद्ध भी। उनकी सबसे बड़ी क्रमबद्धता यही है कि वे महावीर के जीवन-क्रम के साथ ही आगे बढ़े हैं। प्राय: विषय को वही शीर्षक दिए गए हैं, जो महावीर के गुणों को प्रगट करते हैं। विशेषकर देशना वाले प्रसंग में।

महावीर उन सबके हैं, जो उनके गुणों के साक्षी होकर अपनी आत्मा के विकास के प्रति सजग हैं। विवेकशील। सजगता व विवेक के माध्यम व्यक्तिगत हो सकते हैं। चित्रकारों के प्राण उनकी कला है। कला के माध्यम वे महावीर को अभिव्यक्ति दे सकें इसलिए 'चितेरों के महावीर' नाम देने में कृति की सार्थकता है। वैसे हर प्राणी अपनी क्रियाओं द्वारा नाना प्रकार के कर्मों से चित्रित होता रहता है। ऐसे कर्मों के चितेरे कब और कहां पर महावीर का सानिध्य उपलब्ध कर लें यह उनके परिणामों की विशुद्धता पर निर्भर है। कृति का प्राणपात्र आचार्य कश्यप इसका एक उदाहरण है।

श्रद्धेय स्व. बाबू जुगमंदिरदास जैन कलकत्ता द्वारा जैन ट्रस्ट के माध्यम आयोजित अ. भा. प्रतियोगिता में प्रस्तुत कृति ने प्रवेश पाया। विद्वान् निर्णायकों ने इसे सर्वोच्च पुरस्कार के योग्य समझा। तथा श्रद्धेय पुष्कर मुनिजी के विद्वान् शिष्य श्री गणेश मुनि शास्त्री ने इसके स्वाध्याय के बाद इसके प्रकाशन की व्यवस्था की। इस तरह श्रावक, विद्वान् एव साधक मुनियों की दृष्टि से गुजर कर 'चितेरों के महावीर' पाठकों के हाथ में है। उन्हें यह कृति पसन्द आये तथा उनके विवेक-जागरण में सहायक हो, यही कृति की सार्थकता होगी।

श्रद्धेय श्री गणेश मुनि शास्त्री भगवान महावीर की परम्परा के साधक हैं। साहित्यकार एवं कुशल उपदेशक भी। उनके ग्रन्थ उनकी मनीषा के परिचायक हैं। अमर जैन साहित्य संस्थान के अन्य प्रकाशन एवं प्रस्तुत कृति मुनिजी की उस धर्म-प्रभावना वृत्ति का बिस्तार है जिसके माध्यम वे सत्साहित्य को जन-जन तक पहुंचा देना चाहते हैं। थोड़े समय में ही उचित अवसर पर प्रस्तुत कृति के प्रकाशन की उन्होंने जो व्यवस्था करायी उसके लिए मैं उनका आभारी हूं। उनकी विद्वत्तापूर्ण इस भूमिका के लिए भी, जिसने इस कृति का गौरव बढ़ाया है।

आभार उन सबका भी जो महावीर की पावन गाथा को इस रूप में प्रस्तुत किये जाने में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में सहयोगी रहे हैं। भाई श्री महेशचन्द्र जी का तो यह महावीर के प्रति सामायिक है कि उन्होंने रात-दिन जुटकर थोड़े समय में इसके मुद्रण को कलात्मकता प्रदान की है।

प्रेम सुमन

८, रवीन्द्रनगर, उदयपुर
महावीर जयन्ती, १९७५

अनुक्रम

●●

चितेरों के महावीर

१. जिज्ञासा

वेतवा के किनारे उदयगिरि की एक चट्टान पर एक सौम्य, गौरवर्ण पुरुष आकाश की ओर टकटकी लगाये खड़ा था। जाने किन प्रश्नों का उत्तर खोजता हुआ। अपने में लीन। सामने सूर्य की दिनचर्या समाप्ति पर है फिर भी वह निवासस्थान की ओर लौटने में उत्सुक नहीं लगता। उसका ही एक साथी लपकता हुआ उसकी ओर बढ़ता आ रहा है। नजदीक पहुंचते ही उसके स्वर फूट पड़े—

'चित्रांगद ! यह एकाएक मौन कैसा ? आज प्रातः से ही देख रहा हूँ तुम्हारे मुख पर विषाद छाया हुआ है। मानता हूँ, गुरुकुल के आचार्यप्रवर कश्यप ने तुम्हें शिल्पी-समुदाय का प्रमुख बनाया है। तुम अपनी रंग-संयोजन की कला के मर्मज्ञ हो। जब इतिहास के किसी प्रसंग को चित्रित करने लगते हो तो स्वय अनुपस्थित हो जाते हो। किन्तु तुम्हारी मुखरता, विनोद प्रियता भी किसी से छिपी नहीं है। फिर क्या साल रहा है तुम्हें ? अपने इस सहपाठी से भी छिपाओगे, जो बारह वर्षों से तुम्हारे साथ छाया की तरह रहा है ?'

चित्रांगद ने उपत्यका की ऊंची गुफा से अपनी दृष्टि फेरी। सामने रंग कर्मी श्रीकण्ठ उसके चेहरे पर दृष्टि साधे खड़ा था। बचपन का साथी। चित्र-शाला का सहकर्मी। लगता था यदि थोड़ी देर वह और मौन रहा तो श्रीकण्ठ रो पड़ेगा। चित्रांगद ने अपना दांया हाथ उसके कंधे पर रख दिया। वह आश्वस्त हुआ। उतना ही उत्सुक। चित्रांगद ने कहना प्रारम्भ किया—

'मित्र श्रीकण्ठ ! प्रश्न मेरे विषाद का नहीं है। तुम जैसे कलासाधकों के बीच मुझे क्या दुख ? किन्तु शिल्पी-समुदाय के प्रमुख का यह पद मेरे व्यक्तित्व को विभाजित किये रहता है। एक ओर सुदूर देशों से आये हुए तुम्हारे सहपाठी कला स्नातकों की शिक्षा, व्यवस्था आदि का भार और दूसरी ओर आचार्यप्रवर कश्यप की कला, साधना की सुरक्षा। देखा है तुमने, आचार्य जब सर्जना के क्षणों में होते हैं, कितने डूब जाते हैं अनुभूतियों में।

समस्त गुरुकुल भित्तिचित्रों-सा शान्त हो जाता है। तुमने ध्यान दिया होगा, इधर वर्ष पूरा होने को आया, न जाने आचार्य किस साधना में लगे हुए हैं ? प्रातः प्रार्थना के बाद वे उधर गुफाओं की पंक्तियों में उतर जाते हैं और तब लौटते हैं जब हम विश्राम करते होते हैं।'

'तुम्हें भी ज्ञात नहीं ? हम तो इसलिए निश्चित थे कि आचार्य कश्यप चित्रांगद के परामर्श के बिना रंग में कूँची भी नहीं डुबोते। तुम्हें पाकर वे अपनी कल्पना को साकार हुआ मानते हैं।

'मित्र ! यही तो विषाद है। चित्रांगद की कला-क्षमता में आचार्य को इतना अविश्वास क्यों ? और फिर मेरे साथ तो इतने शिल्पी हैं। कुशल स्थपित, रंगधर्मी कलाकार, पत्थर में प्राण फूंकने वाले मूर्तिकार। वे आदेश तो करते और फिर देखते अपने अन्तेवासियों की कला का चमत्कार। किन्तु न जाने आचार्य किस कल्पना में लीन हैं ? तुम्हीं बताओ, उस आचार्य की खिन्नता हम जैसे कलासाधकों को नहीं सालेगी, जिसने हमें रेखांकन से लेकर रंग-संयोजन तक की कला में पारगत करने में अपने जीवन के कितने वर्षों का होम किया है ?

'बन्धु ! खिन्न न हों। भूले न हों तो आज प्रकाश पर्व है। दीपमालिका आचार्य प्रवर ने गतवर्ष आज के दिन कितना उत्सव किया था ? कितने प्रफुल्ल थे, उसका कारण तो वे जानें। किन्तु आज फिर सांयकाल की प्रार्थना में वे हम सबके बीच होंगे। यह मैं जानता हूँ। क्यों नहीं, आज हम उनकी वर्ष भर की साधना का रहस्य जानने की उनसे जिज्ञासा करें ? आओ, अंशुमाली अपनी यात्रा के पड़ाव की ओर अग्रसर हो रहा है, हम भी गुरुकुल की ओर चलें। सहयोगी कलाकार आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।'

चित्रांगद श्रीकण्ठ का हाथ थामे उदयगिरि की उपत्यका से नीचे उतरने लगा। अर्धगव्यूति की दूरी पर स्थित कलासाधकों का आवास आज उसे अपरिचित सा लग रहा था। पता नहीं, घड़ी-दो घड़ी बाद वह किन रहस्यों के बीच होगा।

गुरुकुल का विशाल सभागृह। चारों ओर की भित्तियों पर भारतीय इतिहास, धर्म, पुराण-कथा के विभिन्न प्रसंगों का चित्रांकन इतना मनोहर

व सजीव है कि लगता है आज आचार्य कश्यप को सुनने भी वहां एकत्र हुए हैं। छत नाना अलंकरणों से चित्रित है। सभागृह के स्तम्भों को चिकना करने में किसी स्थपित ने अपनी कला को उंड़ेल दिया है। चारों कोनों पर एक एक मशाल जल रही है। उसके प्रकाश में वहां शिल्पी समुदाय के सौ कला-साधक बैठे हैं। जलाशय से शान्त। सामने मंच पर आचार्य का आसन लगा है। समीप में ही एक कलात्मक दीपस्तम्भ स्थित है, जिसमें ज्योति प्रज्वलित कर आचार्य हर वर्ष प्रकाश पर्व का शुभारम्भ करते हैं। फिर होड़-सी लग जाती है कला साधकों में दीप प्रज्वलित करने की। वेतवा के किनारे स्थित इस गुरुकुल का कोना-कोना जगमगा उठता है। आचार्य सुनाने लगते हैं प्रकाशपर्व के सम्बन्ध में अनगिनत कथाएं, प्रसंग, न जाने क्या-क्या। उनकी वर्ष भर की अनुभूतियां आज के दिन ही तो प्रकाश में आती हैं। कला-साधक नई स्फूर्ति से भर जाते हैं और उदयगिरि का कोई एक शिलाखण्ड उनकी कला से फिर सार्थक हो जाता है। किन्तु आज का यह विलम्ब पता नहीं आचार्य की किस अनुभूति को प्रगट करता है?

मंच के पृष्ठ भाग के द्वारकक्ष का पटह गूंज उठा। आचार्य प्रवेश कर रहे हैं। साथ में हैं, चित्रांगद, श्रीकण्ठ एवं कुछ और प्रमुख कलाकार। कला साधकों ने उठकर उनका अभिवादन किया। आचार्य कश्यप ने आसन ग्रहण किया। उनकी उपस्थिति मात्र से जैसे सभागृह आलोकित हो उठा हो। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि जिस किसी कलाकार पर पड़ती वह अपने को धन्य मानता। चित्रांगद को उस दृष्टि में एक प्यास दिखायी पड़ी। एक तड़प। पता नहीं आचार्य क्या खोज रहे हैं? इतनी गहरायी से उन्होंने पहले कभी कलाकारों के चेहरे नहीं नापे। तभी मंगल पाठ के उपरान्त आचार्य मुखर हो उठे—

'कलासाधकों! प्रकाशपर्व आप सबको मंगलमय हो। इस ज्योतिपर्व के सम्बन्ध में न जाने कितने प्रसंग मैं आप को सुना चुका हूं। उन्हें आपने रंगों के माध्यम से इन गुफाओं में भी उतारा है। एक से एक बढ़कर कलाकृतियां। किन्तु आज मैं आपको क्या प्रसंग सुनाउं, समझ में नहीं पा रहा हूं। आप स्वतन्त्र हैं, अपनी कल्पना को रंग देने में।'

आचार्य कश्यप इतना कहकर दीप स्तम्भ को प्रज्वलित करने लगे। तभी

एक स्वर उभरा—

'आचार्य, धृष्टता क्षमा करें। सभी कला-साधक विनीत हैं। आप के प्रति विश्वास से भरे हुए। किन्तु आपकी यह उपेक्षा अब सह्य नहीं है। दीपस्तम्भ का प्रकाश हमें कितना मार्गदर्शन करेगा, यदि आपने अपने अन्दर की ज्योति हमें नहीं बांटी। हमारी कला शक्ति पर अविश्वास न करें गुरुदेव! आप कहें, आप के मन में क्या प्रसंग उमड़ रहा है?'

श्रीकण्ठ हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। आचार्य के हाथ की मशाल दीपस्तम्भ तक नहीं पहुँच पायी। उन्होंने दृष्टि फेरी। तभी दूसरा स्वर उभरा—

'गुरुदेव! श्रीकण्ठ ठीक कहता है। अब यह दीपस्तम्भ नहीं जलेगा, जब तक आप यह प्रगट नहीं कर देते कि वर्ष भर इन पहाड़ियों के भीतर आप क्या खोजते रहे? ऐसा कौन-सा प्रसंग है, जिसे आप कहने में संकोच कर रहे हैं? आप न केवल कलाओं के आचार्य हैं, इतिहास, पुराण, धर्म-दर्शन आप की जिह्वाग्र पर है। और फिर आप में आत्म-ध्यान की वह शक्ति है कि हजारों वर्ष पूर्व की घटनाएँ आप सामने घटित होते हुए देख सकते हैं। आपने भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध के जीवन के कितने प्रसग हमें सुनाये हैं। वे सब कहां शास्त्रों में लिखे हैं? सब आपकी अनुभूति से अनुस्यूत हुए हैं। निवेदन है, आचार्य! हमें भी उन क्षणों को जीने दें, जो आप की साधना की उपलब्धि है।'

आचार्य ने चित्रांगद के चेहरे को देखा जो जिज्ञासा से भरा हुआ था। शिल्पी-समुदाय पर दृष्टि घुमायी। सभी एकाग्र चित्त हो उन्हें सुनने को आतुर थे। स्वयं को रोक पाना अब कठिन था, आचार्य कश्यप मशाल लेकर खड़े हो गये। बोले—

'चित्रांगद! श्रीकण्ठ! अन्य कलाकारो! मुझे तुम्हारी इसी जिज्ञासा भरी स्थिति की प्रतीक्षा थी। मेरी साधना, आकांक्षा को जानना चाहते हो तो आओ मेरे साथ। उदयगिरि की गुफाओं में चलें। वहीं मैं अपनी बात कह पाऊँगा।'

सभागृह के मुख्य द्वार से आचार्य कश्यप मशाल लिए हुए चल दिये।

चित्रांगद, श्रीकण्ठ उनके पीछे थे। गुरुकुल के पच्चीस उत्साही कलाकार और उनके पीछे हो लिये। आचार्य प्रमुख गुफाओं को छोड़ते हुए उस पीछे की पहाड़ी की तलहटी में पहुँचे, जिसके ऊपर की गुफा में एक जैन प्रतिमा खुदी हुई है। पहाड़ी के प्रवेश द्वार पर आचार्य खड़े हो गये। शिल्पी समुदाय के एकत्र होने पर बोले--'आप सभी यह द्वार पहली बार देख रहे होंगे। मेरी यात्रा यहीं से प्रारम्भ होती है। सब भीतर प्रवेश करें। ध्यान रहे, प्रकाश के लिए यही एक मशाल अपने साथ है, अत: सब साथ-साथ चलें और दीवाल के दोनों ओर देखते चलें।'

प्रवेश करते ही शिल्पियों ने देखा वह गुफा नहीं, किसी सम्राट् का तहखाना जैसा था। एकदम सपाट भूमि, छत एवं दीवालें। दीवालों पर दोनों ओर आमने-सामने एक-एक धनुष के अन्तर से लम्बे-चौड़े चित्रफलक टंगे हुए थे। शिल्पी आश्चर्य चकित रह गये। जब आचार्य ने उन्हें बताया ये चित्र-फलक नहीं, गुफा की दीवालों को ही मसाले से इतना चिकना किया गया है कि उन पर चित्रकर्म किया जा सके। एकदम दर्पण जैसा। इस प्रकार १२-१२ भित्तिफलकों को देखते हुए शिल्पी संघ जब आगे पहुँचा तो ठिठक गया। सामने एक बड़ी दीवाल से गुफा समाप्त हो गयी थी। एक दीपक के प्रकाश में दो कलाकार अभी भी कार्यरत थे। आचार्य उनके पास जाकर खड़े हुए। मशाल का प्रकाश पड़ते ही उन कलाकारों की आकृतियां स्पष्ट हो गयीं। एक थी गौरवर्ण, तीखी नासिका एवं पकी दाढ़ी वाले किसी वृद्ध कलाकार की आकृति। और दूसरी तरुणाई से पुष्ट एवं रूप से सुघड़ किसी युवा नारी की आकृति। आचार्य ने शिल्पियों को अधिक चकित होने का अवसर नहीं दिया। बोले-

'कला-साधकों! प्रथम इन से परिचय प्राप्त करें, जिनकी अथक साधना और परिश्रम का परिणाम यह गुफा है। ये हैं अमरावती की चित्रशाला के आचार्य पूर्णकलश, जिन्होंने मेरी कल्पना के अनुरूप इस गुफा का चित्रांकन के लिए तैयार किया है। और यह हैं उज्जयिनी की चित्रसभा की स्नातिका सुश्री कनकप्रभा, जिसने चित्रभूमि तैयार करने में दक्षता प्राप्त की है। उज्जयिनी में मेघदूत के भित्तिचित्र इसके द्वारा निर्मित चित्रभूमि पर ही बने

हैं। और ये हैं पच्चीस चित्रभूमियां इसकी अद्भुत कला की प्रमाण।'

'सत्य है गुरुदेव ! ये चित्रभूमियां इनके नाम को सार्थक करती हैं। और इनका तारुण्य उस दिन सार्थक होगा, जब ये भित्तियां किसी महापुरुष के प्रसंग से अनुप्राणित हो उठेंगी।' किसी वाचाल रंगधर्मी का स्वर गूंजा। कुछ शिल्पी मन-ही-मन मुसकाये। चित्रांगद ने बात आगे बढ़ायी-

'आचार्य ! नवागत कलाकारों का स्वागत है। स्तुत्य है उनकी कला। किन्तु गुरुदेव ! इससे हम और उत्सुक हुए हैं, ऐसी कौन-सी कल्पना को आप साकार करना चाहते हैं, जिसके लिए बाहर से कलाकार बुलाने की आपको आवश्यकता पड़ी ? वे धन्य हैं, जो हम से पूर्व आप का मनोरथ जान गये।'

'नहीं चित्रांगद ! यह बात नहीं है। इन्हें भी पता नहीं है, मैं इन भित्तियों पर क्या चित्रित देखना चाहता हूं। किन्तु अब प्रगट कर देना चाहता हूं अपनी आकांक्षा। चाहे तुम उसे मेरा आदेश मानो या अपनी गुरु-दक्षिणा। सब शान्ति से बैठ जायें और सुनें।'

कनकप्रभा ने आचार्य को बैठने का आसन दिया। मशाल थामकर गुहा के एक कोने में लगा दी। और स्वयं दीपशिखा-सी आचार्य की बांयी ओर बैठ गयी। दांयी ओर शिल्पी पूर्णकलश, चित्रांगद, श्रीकंठ एवं सामने सभी चित्रकार। आचार्य ने कहना प्रारम्भ किया—

'शिल्पियो ! आप देश के कोने-कोने से आकर यहां एकत्र हुए हैं। नालन्दा, कौशाम्बी, भरहुत, मथुरा, तक्षशिला, मदुरा, उज्जयिनी, अमरावती और न जाने कहां-कहां के कला-केन्द्रों को आपने देखा है। कुछ का स्वयं निर्माण किया है। अभी कुछ माह पूर्व सारनाथ, प्रयाग, सांची की कलाकृतियां देखकर आप लौटे हैं। रामायण, महाभारत, बौद्धजातक की कथाओं एवं राम, कृष्ण, बुद्ध की जीवनियों के कितने प्रसंगों के चित्र तुम्हारी कलापारखी दृष्टियों से गुजरे हैं। सौ वर्ष पूर्व के गुप्तकाल का आपने इतिहास पढ़ा है। कला के क्षेत्र में कितनी उन्नति हुई है। किन्तु भद्र ! इन कला-केन्द्रों में कहीं आपने महावीर का नाम अंकित देखा ? कहीं तुम्हें करुणामयी त्रिशला का चित्र दिखायी पड़ा ? देखा है कहीं तुमने सिद्धार्थ के राजकुमार के केशलुंचन

का दृश्य ? उठी है तुम्हारी कूँची कभी उस प्राणीमात्र के प्रति करुणा बरसाने वाले महावीर को चित्रित करने के लिए ? कभी आपने कल्पना की है, उस वर्धमान की तपश्चर्या के जीवन की ? स्वप्न भी आया तुम्हें कभी महासती चन्दनबाला की हर्षमिश्रित उस मुखाकृति का, जब वह महावीर को पारणा करने प्रस्तुत हुई थी ? शायद नहीं भद्र, नहीं । मैं पूछता हूँ ऐसा क्यों हुआ ? एक ही समय में, एक ही प्रदेश में विचरण करने वाले बुद्ध और महावीर में से मात्र बुद्ध ही क्यों कलाकारों की दृष्टि में चढ़ सके ।महावीर क्यों उपेक्षित हुए ? किन्तु विचारता हूं तो दोष कलाकारों का नहीं, समाज की स्वीकृति का है ।'

'क्षमा करें भद्र ! वर्ष भर जिन अनुभूतियों को मैंने जिया आज उन्हें कहने को विवश हूँ । जब से मैंने महावीर के जीवन-प्रसगों से स्वयं को सम्बद्ध करना प्रारम्भ किया तभी से सोच रहा था कि उनकी कथा को स्वय चित्रित करूँ । किन्तु जब भी चित्रशाला में बैठा, बहुत द्रवित हो गया हूँ उनकी साधना पर । उनके प्रेम पर । आयुष्मान् ! यह कार्य आप लोग ही कर सकते हैं । चित्रभूमियां मैंने तैयार करा दी हैं । शिल्पी पूर्णकलश, आयुष्मति कनकप्रभा आप की सहयोगी रहेंगी । बोलो, कला के इतिहास में यह नया अध्याय जोड़ सकेंगे आप ? कौन प्रारम्भ करेगा ?'

'यह गौरव एक अतिथि को दें आचार्य ! मानती हूँ, चित्रालेखन के अभ्यास में मैं प्रवीणा नहीं हूँ । किन्तु विश्वास है, महावीर जैसे युगपुरुष का कथानक चित्रित करते समय मेरी कूंची थकेगी नहीं ।' अभ्यर्थना में कनक प्रभा ने हाथ जोड़ दिये ।

आचार्य कश्यप जब तक कनकप्रभा को अपनी अनुमति प्रदान करें उसके पूर्व ही चित्रांगद बोल उठा--'गुरुदेव ! अतिथि कलाकार की इच्छा अवश्य पूरी की जाय । साथ ही हम लोगों को भी इस महायज्ञ में अपनी-अपनी कला की आहुति देने का अवसर दिया जाय ।'

'भद्र ! अवश्य ही सबको अवसर मिलेगा । महावीर की कथा ही ऐसी है, जिसे विभिन्न चित्तों वाली प्रतिभाएँ ही पूरा कर सकती हैं । आप सबका स्वागत है ।'

'आचार्य ! एक मेरा निवेदन भी है। इससे पूर्व कि हम में से कोई अपनी कूंची उठाए, आप हमें भगवान महावीर की सम्पूर्ण कथा सुनायें गुरुदेव ! उनकी परम्परा की, उनके जन्म की, शैशव की, उनकी प्रव्रज्या की, तपश्चर्या की। और आचार्य ! उन प्रसंगों की, जिनके साक्षी होकर अनेक आत्माओं ने अपना कल्याण कर लिया है।'

आचार्य कश्यप ने सहर्ष श्रीकंठ की ओर देखा। वे और अधिक विश्वस्त हुए। बोले—'श्रीकंठ ! तुम सबके उत्साह ने मुझे आश्वस्त कर दिया है। मेरा स्वप्न अवश्य पूरा होगा। महावीर की पूरी कथा सुनाऊँगा तुम्हें। पूरे प्रसग। उनकी सम्पूर्ण देशना समझाऊँगा। ताकि उस वातावरण में डूबकर तुम उसे चित्रित कर सको। किन्तु भद्र ! मेरी एक बात याद रखना। तुमने शास्त्र पढ़े हैं। पिटकों का अध्ययन किया है। आगमों में तुम्हारी गति है। यदि मेरी किसी बात का आगमों से मेल न हो, सूक्ष्म या विस्तार में कह दी गयी हो, अर्थ नया लगे तो मेरे प्रति संदिग्ध न होना।

महावीर जिस रूप में तुम्हारे चित्त में अंकित हो सके उसे ही कला में उतारना। वह तुम चितेरों का महावीर होगा। यदि कोई बात तुम्हारे मन को मथे तो अवश्य मुझसे पूछना। अच्छा, अब सब जाकर विश्राम करें। रात्रि अधिक हो गयी है। प्रभात में यहीं एकत्र हों तब कथा प्रारम्भ करूँगा।'

••

२. परम्परा

प्रभातवेला में उदयगिरी की उस गुफा में जब संघ एकत्र हुआ तो सभी उल्लास से भरे थे। आचार्य कश्यप आसन पर बैठे हुए ऐसे लग रहे थे मानों स्वर्ण कमल उग आया हो। कलाकारों की भाव भंगिमाएँ दर्पण सदृश थीं। आचार्य जो बोलें उसे ग्रहण कर लिया जाय। श्वेतवस्त्रा कनकप्रभा निर्मल आत्मा का प्रतीक बनी बैठी थी। गुफा में दिनकर की किरणों के प्रवेश के साथ ही आचार्य का स्वर गूंज उठा—

'वत्स ! भगवान महावीर के जन्म की कथा के पूर्व आपको उनकी परम्परा का परिचय देना चाहूंगा। भारतीय इतिहास में अब तक दो परम्पराएँ विकसित हुई हैं। वैदिक और श्रमण परम्परा। वैदिक परम्परा से ब्राह्मण धर्म अनुस्यूत हुआ एवं श्रमण परम्परा से जैनधर्म और बौद्धधर्म। जिसे अब हम जैनधर्म के नाम से जानते हैं, उसका इतिहास बहुत पुराना है। इसमें २४ तीर्थङ्कर क्रमशः हुए हैं। महावीर के पूर्व २३ तीर्थङ्करों ने जैनधर्म की स्थापना एवं प्रचार किया था। आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की थी कि मनुष्य अपनी आत्म-शक्ति का विकास कर परमात्मा की अवस्था को प्राप्त कर सकता है तथा आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने का साधन अहिंसा और सत्य से साक्षात्कार करना है।

धर्म के इन मूल तत्वों के निरूपण में एक तीर्थङ्कर से दूसरे तीर्थङ्कर का कोई भेद नहीं रहा। न कभी रहेगा। प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने-अपने समय में देशकाल, जनमानस की प्रकृति, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान में रखते हुए साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका के लिए अपनी-अपनी एक नवीन आचार-संहिता का निर्माण करते हैं। धर्म के आचरण में जो विकृतियां भ्रांतियां आ जाती हैं उनका वे परिष्कार करते हैं। आप महावीर के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन कर सकें, उनसे सम्बद्ध घटनाओं के

पीछे छिपे सत्य को पकड़ सकें इसके लिए आवश्यक है, उनके पूर्व के तीर्थङ्करों के जीवनक्रम की भी जानकारी आपको हो। उस विचारधारा से आप गुजरें, जिसे महावीर ने विकसित किया है।'

आचार्य कश्यप विराम के लिए थोड़ी देर रुके। कलाकारों के चेहरों पर वही उत्सुकता थी, वही उल्लास, उन्होंने कथासूत्र को आगे बढ़ाया—

'श्रमण परम्परा के आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव थे। वे ऐसे समय में हुए जहां से मानव का इतिहास प्रारम्भ होता है। अतः वे प्रागार्य हैं। वेदपूर्व हैं। जैन पुराणों के अतिरिक्त ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य में उनके चरित का बखान है। ऋषभदेव की प्रतिष्ठा केवल इसलिए नहीं है कि उन्होंने आदि मानव का जीना सिखाया, भाषा दी तथा कृषि, मसि आदि उपयोगी कलाओं में निष्णात किया, अपितु वे इसलिए दोनों धार्मिक परम्पराओं में स्मरण किये गये कि उन्होंने धार्मिक अन्तविरोधों को रचनात्मक मोड़ दिया। अहिंसा के तत्त्वचिन्तन द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठापित किया तथा भेद-विज्ञान के दर्शन द्वारा जगत् की सत्यता को उजागर किया। प्राचीन ग्रन्थों में उन्हें 'योगी', 'केशी', 'आदिनाथ' 'हिरण्यगर्भ' 'ब्रह्मा' आदि अनेक नाम दिये गये हैं, जो ऋषभदेव के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के द्योतक हैं। मनुष्य को भोग से पुरुषार्थ और कर्म की ओर आकर्षित करने में इस आदि तीर्थङ्कर का अपूर्व योगदान है।

भगवान ऋषभदेव आध्यात्मिक चिन्तन की निधि को इतना सार्वजनिक कर गये थे कि उनके बाद के कुछ तीर्थङ्करों को कोई अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा। २०वें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत के समय तक सम्भवतः देशकाल की ऐसी परिस्थितियां रहीं कि इतिहास अधिक घटनाएं एकत्र नहीं कर सका। इस बीच के तीर्थङ्करों को वही ज्ञान प्राप्त हुआ, वे ही शक्तियां उनमें जागृत हुईं, जैनधर्म के वही सिद्धान्त गतिशील रहे, किन्तु उनके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी। धीरे-धीरे मानव की बुद्धि, आचरण एवं ग्रहणशीलता में परिवर्तन हुआ। जगत् में वे घटनाएं घटने लगीं कि धार्मिक शिक्षकों को पुनः अपने अर्जित ज्ञान और अनुभव को अभिव्यक्ति देनी पड़ी। अतः श्रमण परम्परा के अंतिम चार तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में इतिहास पुनः

सक्रिय हो उठा। भगवान महावीर के समय तक जैनधर्म जिस रूप में प्रगट हुआ वह इन चार तीर्थंकरों के क्रमशः प्रयत्नों का फल था। महावीर के योग-दान को समझने के लिए इन तीर्थंकरों के जीवन को भी आंकना पड़ेगा।'

'आयुष्मति कनकप्रभा! जागृत तो हो?'

'आचार्यप्रवर! शयन तो मैं उसी दिन त्याग आयी थी जब उज्जयिनी से चली थी। अब तो आंखें इसलिए बन्द हैं कि उस सम्पूर्ण इतिहास को भीतर घटता हुआ देख सकूं, जिसे खुली आंखों चित्रित करना है। आचार्य! आप तो कहना प्रारम्भ रखें। देख रहे हैं, शिल्पी-समुदाय चातक-सा प्रतीक्षित है कथा के प्रति?

'भद्र चित्रागद! २१वे तीर्थंकर नमिनाथ मिथिला के राजा थे। हिन्दू-पौराणिक परम्परा में उन्हें राजा जनक का पूर्वज कहा गया है। 'अनासक्ति योग के वेपुरस्कर्ता थे। उनकी यही वृत्ति राजा जनक को विरासत में मिली। सम्भवतः इसी आध्यात्मिक दाय के कारण उनका सारा वंश और राज्य 'विदेह' नाम से प्रचलित हुआ। उनके युग में अहिंसा का इतना व्यापक प्रचार और परिष्कार हुआ था कि जनक तक आते-आते धनुष से प्रत्यचा उतर गयी थी। भगवान राम का धनुष चढ़ाकर सीता को ब्याहना शौर्य और पुरुषार्थ का आह्वान करना था। नमिनाथ आत्म-चिन्तन, निष्काम कर्म और अनासक्ति भावना के प्रकाशन के 'लिए हमेशा स्मरण किये जायेंगे।

राजा जनक के समय में धनुष पर जो प्रत्यंचा चढ़ी तो उसके अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों तरह के परिणाम हुए। समाज की रक्षा, शील की प्रतिष्ठा एव सद्वृत्तियों के विकास के लिए जहां क्षत्रियों ने शौर्य प्रदर्शन किया, वहां धनुष का उपयोग मृगया के लिए भी बढ़ गया। मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसका उदाहरण देखने को मिला २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय में। महा-भारत के युग मे। नेमिनाथ यदुवशी थे। भगवान कृष्ण उनके चचेरे भाई थे। नेमिनाथ का विवाह-सम्बन्ध गिरिनगर के राजा उग्रसेन की विदुषी कन्या राजुलमती से होना निश्चित हुआ था, किन्तु बारात के भोजन निमित्त एकत्र पशुओं की चीत्कार सुन नेमिनाथ संसार का परित्याग कर तपोवन में चले

गये। राजुलमती ने उनका अनुगमन किया। हिंसा एवं मांसाहार की इस पैशाचिक प्रवृत्ति की ओर जन सामान्य का ध्यान आकर्षित करने एवं अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से नेमिनाथ ने जो पद्धति अपनाई वह अद्भुत थी। साथ ही उन्होंने अहिंसा की परिधि में पशु-पक्षी जैसे सामान्य जीवों के हितों को भी सम्मिलित कर लिया था। अतः करुणा मूलक जीवन-दृष्टि को विकसित करने में नेमिनाथ ने विशेष प्रयत्न किया।

२३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म ई. पू. आठवीं शताब्दी (७७७ वर्ष) में हुआ था। महावीर से कुल २५० वर्ष पूर्व। श्रमण परम्परा पर पार्श्वनाथ का गहरा प्रभाव पड़ा। क्योंकि इन्होंने परम्परागत जैनधर्म की व्यवस्था में कई परिवर्तन किये। इनके पूर्व जन्मों की कथाओं में इनके व्यक्तित्व को क्षमा-शीलता का प्रतिष्ठापक कहा गया है। इनके तीर्थङ्कर जीवन में कमठ नामक पूर्वबैरी ने जितने भी उपसर्ग किये वे निरर्थक हुए। क्योंकि पार्श्वनाथ क्षमा के सागर थे। अहिंसा के प्रचारक होने के कारण इन्होंने एक बार नाग-नागिनी के जोड़े को अग्नि में जलने से बचाया था। फलस्वरूप नागफन की छाया इनकी मूर्ति के साथ अभिन्न हो गयी। पार्श्वनाथ कठोर तपश्चर्या के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके जीवन में पूर्व तीर्थङ्करों के समस्त गुण एवं क्षमताएँ एकत्र हो गयी थीं। ऋषभदेव का योग, नमिनाथ की अनासक्ति और नेमिनाथ की करुणा प्रधान अहिंसावृत्ति पार्श्वनाथ में साकार हो उठी थीं। पार्श्वनाथ ने धर्म प्रचार हेतु चतुर्विध संघ की भी स्थापना की थी, जिसके अनुयायी महावीर के समय तक अधिक संख्या में विद्यमान थे। स्वयं बुद्ध पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित हुए थे। पार्श्वनाथ ने जिस चातुर्याम धर्म का प्रवर्तन किया था, उसका विकास अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों के रूप में हुआ है।

इस प्रकार ऋषभदेव से पार्श्वनाथ तक की जो परम्परा है, वह पर्याप्त कारण है महावीर जैसे व्यक्तित्व को जन्म देने में। पार्श्वनाथ के समय में ही आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में विचार स्वातन्त्र्य के बीज वपन हो गये थे, जिनका प्रस्फुटन महावीर के युग में हुआ। वे सारी क्या परिस्थितियां थीं, क्या कारण थे, कैसा वातावरण था,

जिसमें महावीर को हर तरह की क्रान्ति करनी पड़ी तथा उस जैसे व्यक्तित्व को तीव्रता से जगत् में अनुभव किया गया, इस सबके सम्बन्ध में मैं रात्रि में विस्तार से बतलाऊँगा। अभी मुझे विराम की आज्ञा दें। और आप लोग भी उस मानस को तैयार कर पुनः यहां आयें, जिसमें महावीर को सुना जा सके।'

क्षणभर बाद कलाकार विसर्जित हो गये। रह गयीं गुहा की वे अचित्रित भित्तियां, जिनमें आचार्य कश्यप की दृष्टि को महावीर का सम्पूर्ण जीवन घटित होता हुआ दिखता है।

●●

३. पूर्वरंग

वेतवा के इस पार विदिशा नगरी की अट्टालिकाएँ वातायनों के प्रकाश से दीपस्तम्भ-सीं दिख रहीं थीं। उस पार उदयगिरि की एक गुफा मशालों के प्रकाश से एक प्राचीन प्रकाश को समेटने आतुर थी। उसकी छत्रछाया में बैठे थे आचार्य कश्यप एवं वे चितेरे, जिन्होंने महावीर के व्यक्तित्व को अपनी कला समर्पित करने का प्रण किया है। सुश्री कनकप्रभा ने वृद्ध कलाकार पूर्णकलश के साथ गुहा में प्रवेश किया। उनके आसन ग्रहण करते ही आचार्य ने कथा सूत्र सम्हाला—

'कलाकार बन्धुओ ! मध्याह्न मैंने महावीर के पूर्व की परम्परा की बात की थी। महावीर के युग में उसकी क्या स्थिति थी, इसे स्पष्ट करना होगा। वैसे आप लोगों ने अध्ययन द्वारा यह जाना है कि महावीर का युग उथल-पुथल का युग था। समाज, धर्म, राजनीति हर क्षेत्र में विकृतियां थीं। अशान्ति थी। आक्रोश था। इन सब परिस्थितियों ने महावीर या बुद्ध को जन्म दिया। शास्त्र आपसे यही कहते हैं। मेरी संवेदना इस कथन से नहीं जुड़ पाती। हिंसा की स्थिति अहिंसक को जन्म दे, अशान्ति का वातावरण शान्ति के उद्घोषक को पैदा करे, शोषण की किरणों से निस्पृही, अपरिग्रही व्यक्तित्व प्रकाशित हो तथा मत-मतान्तरों एवं आग्रही विचारकों के जलाशय में अनेकान्तवाद का समन्वयी कमल खिले, यह सब कैसे सम्भव है ? महावीर के प्रति हमारी श्रद्धा ने इन सब परिस्थितियों को पैदा किया है। महावीर में जितने गुणों का विकास हुआ, ठीक उनके विपरीत-बुराईयों का भी अस्तित्व हमें उस युग में दिखायी पड़ा। और उन सात्विक एवं अच्छाई के परमाणुओं पर परदा पड़ गया, जिनके घनीभूत हो जाने पर महावीर जैसे व्यक्तित्व को पैदा होना पड़ा है। अतः जगत् की बुराईयों की प्रतिक्रिया स्वरूप महावीर पैदा नहीं हुए। वे सद्वृत्तियों के विकास के परिणाम थे।

तुम्हें याद होगा, मैंने कभी कहा था–तीर्थङ्कर अवतार नहीं होते। जीव को पूर्वभवों की लम्बी साधना, आत्मा की क्रमशः निर्मलता तीर्थङ्कर की स्थिति तक लाती है। आगम ग्रन्थों में महावीर के पूर्वभवों की लम्बी शृंखला है, जिससे यह और अधिक स्पष्ट होता है कि महावीर का जन्म कितनी अच्छाईयों के संचय का परिणाम है।

उत्तर भारत की भूमि में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में २३ तीर्थङ्करों, राम, कृष्ण एवं अनेक अज्ञात महापुरुषों के सद्गुणों के संचित परमाणु इतने अधिक सक्रिय हो गये थे कि जिनका विस्फोट एक ही समय में अनेक महापुरुषों के रूप में हुआ। महावीर, बुद्ध, गोशाल, अजित, संजय पूर्णकश्यप आदि विचारक आदि एक ही शृंखला की कड़ी थे। उनके व्यक्तित्व और प्रभाव की भिन्नता पूर्वसंचित सद्गुणों की न्यूनाधिकता का परिणाम है।'

'आयुष्मति कनकप्रभा ! कहीं मन तर्क करना चाहे तो संकोच न करना ?'

'आचार्य ! आपसे क्या छिपा है ? मैंने सुना है, महावीर के ही युग में सुदूर देशों में भी कई विचारक पैदा हुए थे। चीन में लाओत्से और कांगफ्यूत्सी, यूनान में पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान में जरथुष्ट, फिलिस्तीन में जिरेमियां और इजकिल आदि। गुरुदेव ! सद्गुणों के विस्फोट का इनसे भी कोई सम्बन्ध है क्या ?'

'आयुष्मति ! तुम्हारी नगरी के सार्थवाहों की विदेश यात्रा तुम्हारे इस कथन से सार्थक हुई। तुम्हारा प्रश्न महत्वपूर्ण है। चित्रांगद ! आप सबने पढ़ा होगा, २४ तीर्थङ्करों की जन्मभूमि उत्तरी भारत के विभिन्न नगरों में ही है। प्रायः सभी की माताओं को एक-से स्वप्न दिखायी पड़ते हैं तथा सभी का जन्म क्षत्रिय कुल में ही हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि महापुरुषों के जन्म के लिए देश का एक निश्चित भूभाग आकर्षित करता है, मां की एक विशिष्ट चित्तभूमि आवश्यक है तथा पौरुष और उदारता की अभिव्यक्ति के लिए एक वंश-परम्परा की अपेक्षा है।

इसी प्रकार महापुरुषों के जन्म के लिए एक विशेष समय भी धीरे धीरे निर्धारित होता रहता है, जब अध्यात्म के तल पर ऐसी आत्माओं का

शृंखलाबद्ध स्फोट होता है। अतः महावीर के समय में सारे जगत् में यदि विचारक पैदा हुए तो कोई अनहोनी नहीं है। बल्कि प्रमाण है इस बात का कि महावीर के अन्य गुणों का भी उस समय विकेन्द्रीकरण हुआ होगा, जिसका मानव, पशु एवं पक्षी जगत् में कोई भी जीव धारक हो सकता है।'

महावीर युग के वातावरण के सम्बन्ध में एक-दो बातों को कहकर इस प्रसंग को समाप्त करूंगा। तत्कालीन धार्मिक जीवन की जटिलता, अन्ध विश्वास, एकाधिकार आदि प्रतियों से जन सामान्य में पर्याप्त असंतोष था। आस्तिकवाद अपनी चरम सीमा पर पहुंच रहा था। हर बात प्राचीन ग्रंथों के आधार पर उचित सिद्ध की जाने लगी थी। विचारों में रुकावट आ गयी थी। अतः यह उस धार्मिक एवं दार्शनिक वातावरण की मांग थी कि कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित हो जो इन परम्परागत रूढ़ियों को चुनौती दे सके। तर्क एव विचार के प्रभाव को गति दे सके। महावीर ने इस मांग की पूर्ति की।

दूसरी ओर, समाज-व्यवस्था ब्राह्मणों के हाथ में चली गयी थी। व्यक्ति का स्वातन्त्र्य लुप्त हो रहा था। अकर्मण्यता एवं भाग्यवादिता का विस्तार हो रहा था। स्त्री की सामाजिक स्थिति भयावह होती जा रही थी। मनुष्यता धूमिल हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में किसी ऐसे युग प्रवर्तक की आवश्यकता थी जो सर्वत्र व्याप्त इस अशान्ति और अराजकता को तिरोहित कर सके। महावीर वही प्रकाश लेकर उपस्थित हुए।

किन्तु एक बात यह समझ लें। महावीर ने अपने युग की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक अव्यवस्था व अशान्ति को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। न उनका यह उद्देश्य था। यदि उन्हें मात्र यही करना था तो महावीर का व्यक्तित्व बहुत छोटा हो जायेगा। यथार्थ में महावीर अन्धकार से नहीं लड़े। उन्होंने केवल प्रकाश प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अपनी आत्मा को उस स्थिति तक पहुँचाया, जहां ये सांसारिक व्यवधान स्वमेव तिरोहित, हो जाते हैं। सूरज मात्र प्रकाशित होता है, वह कब देखता है कि लोगों ने धूप का क्या किया? महावीर की वीतरागता इसी में सार्थक है कि वे कुछ हो गये, उन्होंने कुछ किया नहीं।

महावीर की यह उपलब्धि तत्कालीन युग में एक मंगल प्रभात के रूप में

प्रगट हुई, जिससे मानवता के अनेक कमल प्रफुल्लित हो गये। यही कारण है कि तत्कालीन जैनधर्म किसी जाति या वर्ग विशेष का धर्म नहीं था, बल्कि उनका था जो प्राणिमात्र के हितों और अधिकारों के प्रति सचेष्ट थे। इस खुले आमन्त्रण की अनेक निष्पत्तियाँ हुईं। वर्गविहीन समाज का जन्म हुआ। लोकभाषाओं को प्रतिष्ठा मिली। धर्म का एकाधिकार समाप्त हुआ। और चारों ओर निर्मलता का वातावरण बन गया।'

●●

४. जन्म

'भद्र ! आप सब महावीर के जन्म की कथा सुनने को बड़े उत्सुक हैं, उतना ही मैं कहने के लिए आतुर। किन्तु आप उनके जन्मोत्सव में स्वयं सम्मिलित हो सकें, बचपन की। घटनाओं के साक्षी बनें, इसके लिए आवश्यक है, महावीर के सम्बन्ध में जितनी घटनाएं आज तक आपने पढ़ीं या परम्परा से सुनी है उन्हें पकड़कर मत बैठना। क्योंकि तीर्थङ्करों के साथ घटनाएं नहीं घटतीं। घटनाओं का क्रम वे अपने पूर्वभवों में पूरा करके आते हैं। तीर्थङ्कर जीवन में तो वे सुगन्ध की तरह महकते हैं। यह बात अलग है कि उस सुवास के साथ कितने प्राणी अपने को जोड़ लें और वे उनके जीवन के महत्वपूर्ण क्षण बन जायें। महावीर के गर्भ मे आने से लेकर उनके जन्म, बचपन एवं युवावस्था तक जिन घटनाओं, प्रसङ्गों को इतिहास में संजोया है मैं उन सबको कहूंगा और कहूंगा वह भी जो उनके पीछे अकथित है। प्रतीक है। सत्य है।'

'ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे वैशाली विदेह देश की एक प्रसिद्ध और समृद्ध नगरी थी। वहां के निवासियों का आचरण अनुकरणीय था, रूप दर्शनीय। नगर के भवनों एवं चतुष्टकों की शोभा अतुलनीय थी। हैहय वंश के राजा चेटक की छत्र-छाया में वैशाली फल-फूल रही थी। वैशाली के पश्चिम परिसर में गण्डकी नदी बहती थी। उसके पश्चिम तट पर स्थित ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रियकुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, कर्मारग्राम एवं कोल्लाक संन्निवेश जैसे अनेक रमणीय उपनगर और शाखापुर अपनी अतुल समृद्धि मे वैशाली की श्रीवृद्धि कर रहे थे। क्षत्रियकुण्डपुर में लगभग पांच सौ घर ज्ञात-क्षत्रियों के थे, जिनके नायक का नाम सिद्धार्थ था। गणतन्त्रात्मक राज्य होने से सिद्धार्थ अपनी प्रजा में सर्वाधिक शान्तिप्रिय एवं लोकप्रिय राजा थे। वैशाली एवं इस क्षत्रियकुण्डपुर के राजवंशों में घनिष्ठ सम्बन्ध था।

'राजा चेटक की पुत्री त्रिशला राजा सिद्धार्थ को ब्याही थीं। सिद्धार्थ और

त्रिशला का दाम्पत्य दूसरों के लिए आदर्श था। त्रिशला स्वभाव से कोमल थीं, हृदय से उदार। बोलतीं तो सुनने वाला मुग्ध रह जाता। अपने इसी आकर्षक और मृदुल व्यक्तित्व के कारण वे सबको प्रिय थीं। उन्हें सब प्यारे थे। उनका दूसरा नाम 'प्रियकारिणी' सार्थक था। वे उस पूर्व दिशा की भांति थीं, जहां से एक आत्मजयी सूर्य को उदित होना था। राजा सिद्धार्थ का पितृत्व सफल होना था। पति-पत्नी दोनों ही राजसी वैभव के बीच रहते हुए अपना अधिकांश समय धार्मिक अनुष्ठानों एवं आत्मध्यान में व्यतीत करते थे। पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा के वे अनुयायी थे। अतः राजा होते हुए भी सिद्धार्थ ज्ञानी एवं अनेक कलाओं के मर्मज्ञ थे।'

महावीर जैसी महान् आत्माएं किसी विशेष चित्तदशा में ही गर्भ में आती हैं। अतः एक रात्रि में जब त्रिशला अपने शयनागार में निद्रालीन थीं तो रात्रि के पिछले पहर में वे सुहावने स्वप्नों की शृंखला मे खो गयीं। उन्होंने देखा कि उनके समक्ष मद में झूमता हुआ एक हाथी, ऊंचे कंधों वाला शुभ्र बैल, कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी, दो सुगन्धित मालाएं, नक्षत्रों से घिरा हुआ चन्द्र, प्राची में भासमान सूर्य, कमल के पत्रों से ढके दो स्वर्ण-कलश, जलाशय में क्रीड़ारत मछलियां, स्वच्छ जल से भरपूर जलाशय, उमड़ता हुआ समुद्र, मणि-खचित सिंहासन, रत्नों से प्रकाशित विमान, धरणेन्द्र का उतंग विशाल-भवन, रत्नों की राशि और प्रज्वलित अग्नि उपस्थित हैं। इन सब की शोभा उन्हें अच्छी लग रही है। तभी उनकी नींद खुल गयी।

रानी त्रिशला को ऐसे स्वप्न कभी नहीं दिखायी पड़े थे। अतः वे विचार करने लगीं—इन स्वप्नों को देखने का क्या अर्थ है? उनका मन प्रसन्न था। चित्त मे ऐसे लग रहा था, जैसे उन्होंने कोई बड़ी निधि पा ली है। स्वप्नों की मांगलिकता और सार्थकता के प्रति वे निश्चित थीं। फिर भी कुतूहल तो था ही। प्रातः अपने पति सिद्धार्थ से इन स्वप्नों का अर्थ पूछने का निर्णय कर रात्रि का शेष समय व्यतीत किया।

प्रातः काल के कार्यों से निवृत्त हो रानी प्रियकारिणी राजा सिद्धार्थ के समीप पहुँचीं। राजा ने उनका प्रफुल्ल मन से यथोचित सत्कार किया। त्रिशला के कुतूहल भरे मुखमण्डल से सिद्धार्थ समझ गये कि यह कुछ जिज्ञासा शान्त

करने आयी है। फिर भी उन्होंने इतने सवेरे आने का का ण पूछ लिया।'

रानी त्रिशला ने विनयपूर्वक क्रमशः अपने स्वप्नों को कह सुनाया और उनके फलितार्थ जानने की उत्कठा व्यक्त की। राजा सिद्धार्थ स्वप्न-विज्ञान के जानकार थे। जैसे-जैसे वे स्वप्न सुनते जा रहे थे वैसे-वैसे आनन्द से भर रहे थे। रानी का कथन समाप्त होते ही बोल पड़े—'प्रियकारिणी! हम बहुत भाग्यशाली हैं। हमारे इस कुल में एक महान् विभूति जन्म लेने वाली है। त्रिशले! तुम उस ज्योतिशिखा की मां बनोगी। तुम्हें बधाई।'

'वह पुत्र कैसा होगा सो यह स्वप्नों की शृंखला बखान करती है कि हाथी उसकी महानता का प्रतीक है। वृषभ उसके धर्म प्रवर्तक होने का उद्घोषक। वह अपार ऊर्जा और पराक्रम का धारक होगा यह सिंह दर्शन का फल है। लक्ष्मी-दर्शन सम्पत्ति व वैभव के प्रति उसके निस्पृही भाव को प्रगट करता है तथा मालाएं उसकी कान्तिमान सुरभित देह की सूचक हैं। चन्द्र और सूर्य इस बात के सकेत हैं कि बालक सहिष्णु, धीर, गम्भीर और तेजस्वी होगा। ससार को अपनी ज्ञान-प्रभा से आलोकित करेगा। स्वर्ण-कलश उसकी करुणा की पताकाएं हैं। मछलियों का युग्म अनन्त सौख्य की उपलब्धि का सूचक है। उसकी गहन सवेदना का प्रतीक है जलाशय और विशालता का परिचायक है समुद्र। सिंहासन से शिशु की प्रभुता एव देवविमान और धरणेन्द्र भवन से उसकी यश गरिमा का पता चलता है। रत्नों की राशि उसके अनगिनत गुणों की सूचक हैं तथा निर्धूम अग्नि उसकी निर्मलता का प्रतीक है। मुक्ति प्राप्ति का संकेत।'

यह सब सुनते हुए रानी त्रिशला जैसे सोते से जगी हों। बोलीं—'स्वामी! इतनी महान् आत्मा को मैं धारण कर सकूंगी? कितना विलक्षण होगा वह बालक?'

सिद्धार्थ उसकी वत्सलता देख मुस्करा पड़े—'प्रियकारिणी! नारी का यही योगदान तो अपूर्व है। इसी से उसकी कोख की सार्थकता है। और फिर तुम किस बात में कम हो। तुम्हारे रूप, शील एवं सद्व्यवहार का गौरव इस सम्पूर्ण वैशाली जनपद को है। ज्ञातृवंश में इस विभूति को जन्म देकर तुम इसका मस्तक ऊंचा कर दोगी।'

'रानी त्रिशला नारी सुलभ लज्जा से जितनी रक्ताभ हुई उतनी ही उस भाग्यशाली क्षण के प्रति उत्कंठित। वे उठकर अंतःपुर की ओर चली गयीं। सिद्धार्थ प्रमुदित चित्त से दैनिक कार्यों में व्यस्त हो गये।'

आचार्य कश्यप विराम के लिए क्षण भर रुके। तभी गुफा में एक प्रश्न गूंज उठा—

'आचार्यप्रवर! किसी जैनागम मैंने यह पढ़ा है कि महावीर पहले देवनन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये। चूंकि तीर्थङ्कर क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते हैं अतः देवताओं ने उन्हें त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया। गुरुदेव! मैं इस घटना के घटित होने के प्रति आग्रही नहीं हूं। किन्तु यह जानना चाहता हूं इसके पीछे क्या सत्य छिपा है?'

'भद्र चित्रांगद! तुम्हारा कथन सत्य है। जिज्ञासा महत्वपूर्ण। तुमने रामायण, महाभारत पढ़े हैं। पुराणों का अध्ययन किया है। जानते हो वहां कितने साहित्यिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। गर्भ हरण की घटना का उल्लेख भी एक महत्वपूर्ण प्रतीक है। प्राचीन काल से भारतीय धर्म-दर्शन ब्राह्मणों के हाथों में रहा है। ब्राह्मण धर्म के अनेक ऋषि-मुनियों ने अपूर्व साधना कर मुक्ति प्राप्त की है। किन्तु महावीर का जो युग था उस समय तक आते-आते ब्राह्मण धर्म की वह धारा प्रायः सूखने लगी थी, जिसका शुद्ध आध्यात्म से सम्बन्ध था और जो धारा उस धर्म की उफन रही थी उसका गन्तव्य संसार से स्वयं मुक्ति पाना नहीं रह गया था। ब्राह्मण धर्म ने पुरुषार्थ के स्थान पर अब समर्पण का रास्ता अपना लिया था। उसकी मुक्ति किसी दूसरे पर निर्भर हो गयी थी। ऐसी स्थिति मे उस परम्परा में कोई ऐसा महापुरुष कैसे जन्म ले सकता था जो स्वयं इस संसार को जीतना चाहता हो तथा जिसे अपना मार्ग स्वयं बनाना था। उसका जन्म क्षत्रिय कुल एवं किसी वीरांगना की कुक्षी से ही सम्भव था। वही हुआ भी। अतः गर्भहरण की घटना तत्कालीन ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष की कथा है। पुरुषार्थ और समर्पण वाले आध्यात्मिक मार्गों की वर्चस्वता एवं निष्फलता की प्रतीक। महावीर का व्यक्तित्व इस प्रकार के प्रतीकों से और अधिक निखरता है।'

आचार्य ने सुश्री कनकप्रभा की ओर देखा। वह कानों से ही नहीं आंखों

से भी कथा को श्रवण कर रही हो ऐसी लग रही थी। अन्य कलाकार भी कुतुहल एवं उल्लास से भरे थे। आचार्य कश्यप ने पुनः कथा सूत्र सम्हाला—

'कहा जाता है कि आषाढ़ शुक्ला ६(ई. पू. ६००) की उस सुनहरे स्वप्नों की रात से राजा सिद्धार्थ का राजभवन देवताओं द्वारा किये जाने वाले उत्सवों के लिए रंगमंच बन गया था। नगरनिवासी ऐसे अलौकिक कार्यों का अवलोकन कर रहे थे जो आज तक नहीं हुए थे। चारों ओर आनन्द छा गया था। खेत हरी-हरी फसलों से लहरा उठे थे। पशु-पक्षियों ने परस्पर के बैर भुला दिये थे। मनुष्यों में भाईचारे और नम्रता का व्यवहार अधिक बढ़ गया था। और सबसे बड़ी बात यह कि रानी त्रिशला एक अलौकिक दीप्ति से भर उठी थीं। देवीतुल्य उनकी दासियां दिन-रात उनकी सेवा में उपस्थित रहने लगीं। नाना प्रकार के मनोरंजन से प्रियकारिणी का मन बहलाया जाने लगा राजा सिद्धार्थ ने रानी की किसी भी कामना को पूरी करने में कोई कमी नहीं रखी। इस प्रकार वैशाली के आस-पास का सारा वातावरण उस परम ज्योति के प्रगट होने की प्रतीक्षा में रत हो गया था।'

रानी त्रिशला ने चैत्रशुक्ला त्रयोदशी (ई. पू. ५९९) की मध्यरात्रि में जैसे ही पुत्ररत्न को जन्म दिया यह समाचार पवन की भांति सारे वैशाली जनपद में व्याप्त हो गया। जिसने भी सुना दूसरे को सुनाने दौड़ पड़ा। रात्रि का अंतिम प्रहर प्रातःकाल की भांति जनसमूह के उल्लास से जागृत हो उठा। ऐसा लग रहा था कि अज्ञान की रात्रि जा रही है। ज्ञान का सूर्य उदित हो गया है। उस भव्य मंगलवेला में राजा सिद्धार्थ का सम्पूर्ण राजभवन जैसे किसी पर्व में ही सम्मिलित हो गया हो। सिद्धार्थ के आनन्द की तो बात ही मत पूछो। जो परिचारिका यह सुखद संवाद लेकर आयी थी उसका मुख सचमुच ही उन्होंने मोतियों से भर दिया। उसके बाद जो आभूषण हाथ आया उसे वे लुटाते चले गये। वे गर्व से फूले न समा रहे थे कि आज उनका ज्ञातृ वंश सार्थक हो गया एक ऐसे पुत्र के जन्म से, जो प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही इस संसार में आया है। जिसके जन्म लेते ही ऐसा लग रहा है कि किसी थके-हारे पथिक को शीतल छाया मिल गयी हो। पपीहे को स्वाति की

बूंद।

और देवी त्रिशला का आनन्द तो मैं क्या बताऊं। नारी का ऐश्वर्य उसका सुहाग होता है, किन्तु उसकी सार्थकता मातृत्व प्राप्ति में ही है। पुत्र उसके यौवन, प्रेम, वात्सल्य को संबल प्रदान करता है। और फिर महावीर जैसा पुत्र ? वे कल्पनाओं में डूबी हुई थीं। कभी पुत्र के मुख को देखतीं तो कभी शून्य आकाश को, जहां उन्हें वे सोलह स्वप्न साकार होते दिखायी पड़ते। एक ओर जहां वे पुत्र प्राप्ति के आनन्द से भर उठतीं, दूसरी ओर उन्हें इसका भी आभास होता इतना गुणशाली, ज्ञानी एवं आत्मानुरागी पुत्र उनके घर कितने दिन ठहरेगा ? फिर सोचतीं— सभी सपने थोड़े ही सच हो जायेंगे। मैं इसे इस जतन से रखूंगी कि मेरी गोद ही न छोड़े। नारी का मन जितनी उड़ान भर सकता है, वे भर रही थीं। जब वे पुत्र की सुवर्ण की आभावाली देह और चमकते सूर्य की दीप्ति वाले मुखमण्डल को देखतीं तो सब सोचना भूल जातीं। सामने रहता नवजात शिशु का मनोहारी मुखड़ा और नयनों में तैरती राजा सिद्धार्थ की छवि, जिसकी वह अनुकृति था।

प्रातःकाल होते ही क्षत्रियकुण्डपुर से लेकर वैशाली तक का मार्ग जन-समुदाय की अपार भीड़ से अवरुद्ध हो गया था। जिसने सुना वही बधाई देने दौड़ पड़ा। उत्सवों की होड़ लग गयी। प्रमोदशालाएं सामाजिकों से खचा-खच भर गयीं। नृत्य-संगीत में प्रतियोगिताएं चलने लगीं। और राजपथों पर तो जैसे सारा खजाना ही बिछ गया हो। नागरिक अपनी झोलियों से सुवर्ण, धरण, कार्षापण मुट्ठियों में भर-भर लुटा रहे थे। जिसके पास जो था, वह समग्र समर्पण करने के उल्लास में हो गया था।

देवलोक इस आनन्द से वंचित कैसे रहता। सौधर्म इन्द्र ने जब अवधिज्ञान से जाना कि कुण्डग्राम में चौबीसवें तीर्थङ्कर ने जन्म लिया है तो वह प्रसन्नता से भर उठा। समस्त देव-परिवार को सूचित कर वह जन्मोत्सव मनाने कुण्डग्राम आ पहुंचा। वहां आकर देवों ने जो उत्सव किये वे वहां के नागरिकों को अविस्मरणीय हो गये। इन्द्र ने माता त्रिशला की वन्दना की। कहा— 'जगदम्बे ! तुम धन्य हो गयी। तुमने ऐसे बालक को जन्म दिया है, जो इस संसार को कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा। मेरी बधाई स्वीकार करो।'

इन्द्राणी ने बालक को प्रसूतिगृह से लाकर इन्द्र को दिया। इन्द्र उसे ऐरावत हाथी पर बैठाकर सुमेरुपर्वत पर ले गया, जहाँ उस बाल तीर्थङ्कर का अभिषेक किया गया। वस्त्राभरण पहिनाकर इन्द्र-इन्द्राणी उसे फिर माता त्रिशला को सौंप गये।'

'सुन रहे हो श्रीकण्ठ ! इस अभिषेक में एक विलक्षण घटना हुई। इन्द्राणी जब बालक की देह पोंछ रही थी तो बालक के कपोल के जलबिन्दु सूखने का नाम ही नहीं लेते थे। सभी इस विलक्षणता से स्तब्ध थे। तभी इन्द्राणी को बात समझ मे आ गयी। ये बूंदें कहाँ हैं, ये तो दर्पण से स्निग्ध, निर्मल कपोल पर उसी के आभूषणों के प्रतिबिम्ब हैं। उसकी आंखें महावीर के ऐसे रूप को देखकर सार्थक हो गयीं। इन्द्र को जो हजार नेत्रवाला कहा गया है, वह महापुरुषों के ऐसे सुरूप को देखने के कारण ही। जिसके जन्म पर राजभवन से लेकर देवलोक तक के लोगों में ऐसा उल्लास उमड़ा हो उसके अस्तित्व के प्रति यह जगत् कितना प्रतीक्षित था, मात्र अनुमान किया जा सकता है।'

यहाँ तक की कथा कहकर आचार्य कश्यप ने एक स्तम्भ का सहारा ले लिया। थोड़ा रुककर बोले—'भद्र ! मैं चाहता हूँ—महावीर के जन्मोत्सव में आप सब भी सम्मिलित हों। रात्रि बहुत हो गयी है। मुझे विराम की आज्ञा दें, ताकि मैं उस तीर्थङ्कर के बचपन को संजो सकूँ, जिसकी कथा प्रातःकाल कहूँगा।'

कलाकारों के समुदाय में इस प्रकार हलचल हुई जैसे किसी ने भरे शान्त जलाशय में कंकड़ फेंक दिया हो। सभी गुफा से निकलकर गुरुकुल की ओर ऐसे चल पडे जैसे सिद्धार्थ के राजभवन से महावीर का पालना झुलाकर नागरिक अपने घर लौट रहे हों।

●●

५. बचपन

'भगवान महावीर के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि उनके बचपन में कोई घटना नहीं घटी। महापुरुषों के बचपन घटनाओं से शून्य हुआ करते हैं, क्योंकि वे इस जीवन में वह सब कुछ करने नहीं आते जो आमतौर से आदमी बचपन में करता है।.......'

प्रातः काल जब शिल्पी-समुदाय एकत्र होकर कथा सुनने शांत हो बैठ गया तो आचार्य कश्यप ने कथा का आरम्भ उक्त वाक्य से किया। और कथा का क्रम बनाये रखा—

'महावीर भी पूर्ण चेतनता लिए हुए जन्मे थे। अतः वे ऐसा कोई कार्य बचपन में नहीं कर रहे थे, जिसमें बचकानापन हो। यही कारण है कि उनके बोलने, खेलने, शिक्षाग्रहण करने आदि अनेक बातों में उस समय के लोगों को अनेक अतिशय दिखायी दिये, जिनकी लम्बी-चौड़ी कहानियां ग्रन्थों में मिलती हैं। किन्तु महावीर जैसी प्रज्ञा और अनुभव लेकर जन्मे थे, उनके लिए वह सब स्वाभाविक था। महावीर के बचपन के साथ जितने प्रसंग जुड़े हुए हैं वे सब मील के पत्थरों की भांति हैं, जो सत्य रूपी गन्तव्य तक पहुंचने में मदद करते हैं। जिन प्रसंगों की तह तक मैं पहुंच सका हूं, उनमें से कुछ आपको सुनाता हूं।'

कहते हैं, महावीर के जन्म के बारहवें दिन उनका नामकरण संस्कार हुआ। उनके जन्म से सब चीजों की बढ़ोत्तरी हुई। धन बढ़ा, यश बढ़ा, राज्य का विस्तार हुआ। और सबसे बड़ी बात रानी त्रिशला और सिद्धार्थ के आनन्द की कोई सीमा न रही। अतः बालक का नाम 'वर्द्धमान' रख दिया गया। किन्तु महावीर को इस सब वृद्धि से क्या प्रयोजन ? यदि उन्हें पता होता कि इस सब भौतिक और कर्मबन्धन की कारणभूत चीजों की वृद्धि के कारण उनका नाम 'वर्द्धमान' रखा गया है तो वे इसे स्वीकारने से मना कर देते।

किन्तु कोई गहरा कारण था। जिसे वे जानते थे इसलिए यह नाम चल पड़ा। वास्तव में महावीर की चेतना इतनी चुपचाप बढ़ी होगी जैसे पौधों का वृक्ष बनना या कलियों का खिलना। महावीर का अन्तस् केन्द्र से परिधि की ओर इतना फैला होगा कि समस्त प्राणियों का कंपन उन तक पहुँचने लगा होगा। इस आध्यात्मिक वृद्धि से ही महावीर का 'वर्द्धमान' नाम सार्थक हुआ होगा।

स्वय इस 'महावीर' नाम का सुन्दर कथानक है। किसी संगम नामक देव ने वर्द्धमान के मित्रों की उपस्थिति में सर्प का रूप धारण कर उनके साहस और निडरता की परीक्षा ली। परीक्षा में खरे उतरने पर उन्हें 'महावीर' नाम से सम्बोधित किया, जो आज तक चल रहा है। किन्तु क्या वर्द्धमान की वीरता इतनी सांसारिक थी ? इतना बल एवं साहस तो कोई भी ऋद्धि प्राप्त बालक दिखा सकता था। नहीं, वर्द्धमान को 'महावीर' कहे जाने का गहरा कारण है। आध्यात्म के तल पर दो रास्ते हैं मुक्ति को प्राप्ति करने के। स्वयं को परमात्म के प्रति समर्पित करके, स्वयं के अस्तित्व को विलीन करके। और दूसरा रास्ता है, अपने स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा अपनी चेतना का सम्पूर्ण विकास करके मुक्ति पाना। यह रास्ता बड़ा कठिन है। इसमें परम्परा के विपरीत जाना होता है। नया निर्माण करना पड़ता है। स्वयं हीरा बनना एक अलग बात है और स्वर्ण के रूप में किसी हीरे के साथ जड़ जाना एक दूसरी बात है। वर्द्धमान की सम्पूर्ण यात्रा स्वयं हीरे बनने की रही है। इसीलिए वे 'महावीर' कहे जाने के अधिकारी हुए हैं।

महावीर के स्वयं विकसित होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया। सुना है कि आठ वर्ष की अवस्था में जब उन्हें किसी गुरु के पास ले गये तो उसने इन्हें पढ़ाने से मना कर दिया। क्योंकि वह उतना भी नहीं जानता था, जितना महावीर जन्म के समय जानते थे। वे मति-श्रुत ज्ञान के धारक थे। उन्हें उधार के ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं था। इसलिए वे स्वयं खोजना चाहते थे। उनमें सीखने की अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने ज्ञान को स्वयं उपलब्ध करने का प्रयत्न किया, किसी से लेने का नहीं। उनकी सहज उपलब्ध प्रज्ञा की महिमा कुछ ऐसी थी कि जिज्ञासा उत्पन्न होते ही समाधित हो जाती थी। उनके दर्शनमात्र से अन्तर्नयन उघड़

जाते थे। सामान्य लोगों के ही नहीं, ज्ञानियों के भी। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने संजय और विजय नामक दो चारण-मुनियों के चित्त की तात्विक जिज्ञासाओं को भी अपने दर्शनमात्र से समाधित कर दिया था। तब से वर्द्धमान का 'सन्मति' नाम प्रचलित हो गया।

इस प्रकार न जाने कितने नाम महावीर के लिए प्रयुक्त हुए होंगे। जिसने उनके जिस प्रधान गुण का साक्षात्कार किया होगा, वह उन्हें उस नाम से पुकारने लगा होगा। 'वीर', 'अतिवीर', 'महावीर', आदि नाम सब उनके दृढ़ संकल्पी, निर्भयी और स्वतन्त्रचेता होने के प्रमाण हैं। साथ ही इस बात के कि उनका बचपन इतनी प्रौढ़ता और विचारों की परिपक्वता से युक्त था, जितनी अन्य लोग लम्बी साधना के बाद भी प्राप्त नहीं कर पाते।

महावीर के बचपन के व्यक्तित्व में ही अनेकान्त व्याप्त था। वैचारिक सहिष्णुता उनके प्रत्येक कार्य से प्रगट होती थी। उनके बचपन का एक प्रसंग अनेकान्त की भूमिका के रूप में स्मरण किया जाता है—

एक दिन महावीर के बचपन के साथी उन्हें खोजते हुए माता त्रिशला के पास पहुँचे। उस समय त्रिशला राजभवन की तल-मंजिल में कार्यरत थीं। बच्चों ने जब उनसे वर्द्धमान के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कह दिया— 'वर्द्धमान ऊपर है!' क्योंकि प्रायः उन्होंने महावीर को भवन की चौथी मंजिल पर विचारमग्न बैठे हुए देखा था।

बच्चों की टोली दौड़ते-दौड़ते भवन की अंतिम सातवीं मंजिल पर पहुँच गयी। वहां राजा सिद्धार्थ किसी कार्य में व्यस्त थे। किन्तु वहां, वर्द्धमान नजर नहीं आये। बच्चों ने कौतुकवश सिद्धार्थ से पूछा—'मित्र वर्द्धमान कहां है?' सिद्धार्थ जानते थे कि कुमार इस मंजिल के नीचे कहीं खेल रहा होगा। अतः उन्होंने सहज ही कह दिया—'वह नीचे है'। बालक बड़ी दुविधा में पड़ गये। त्रिशला माँ कहती है—'वर्द्धमान ऊपर है' और ये कहते हैं—'नीचे है'। दोनों असत्य नहीं बोलते। किस पर विश्वास किया जाय? अन्ततः सबने भवन की प्रत्येक मंजिल में वर्द्धमान को खोजना प्रारम्भ किया। चौथी मंजिल के एक वातायन में वर्द्धमान ध्यान में लीन थे। बालकों ने उनकी एकाग्रता टूटने पर उनसे बातचीत की एवं अपने मन की इस दुविधा को भी पूछ लिया कि

त्रिशला एवं सिद्धार्थ में से किसका कथन सत्य माना जाय ?

कुमार वर्द्धमान ने हंसकर उत्तर दिया—'दोनों का कथन सत्य है।' यह कहकर उन्होंने अपने साथियों को वातायन पर बुला लिया। वहां से दिखायी पड़ने वाले एक कौए की ओर संकेत करके उन्होंने पूछा—

'बन्धुओ ! यह कौआ कैसा है ?' सभी साथियों ने कहा—'काला है।' वर्धमान ने उन्हें समझाते हुए कहा—वह काला ही नहीं, लाल भी है और सफेद भी। रुधिर की अपेक्षा वह लाल, अस्थियों की अपेक्षा सफेद एव देह की अपेक्षा वह काला है। यही बात मां और पिताजी के कथन के सम्बन्ध में है। मां नीचे की मंजिल में थी अतः उन्होंने मुझे ऊपर बतलाया और पिताजी सबसे ऊपर की मंजिल में थे अतः उन्होंने नीचे की ओर सकेत किया। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में है।'

कुमार के साथी इस प्रकार का विवेचन सुन प्रसन्न हो गये। उन्हें वर्धमान की मित्रता सार्थक लगी। वर्धमान इसी प्रकार बचपन के दिनों मे जीवन के गम्भीर विषयों के सम्बन्ध में चिन्तन करते रहते थे। मैं यह नहीं कहता यह या इस प्रकार की घटनाएं उनके बचपन में घटित हुई होंगी। किन्तु घटित होने की पूरी सम्भावना है। क्योंकि जिस व्यक्ति का अन्तस् इतना चेतन और सजग हो वह संसार के पदार्थों के प्रति गहरायी से अवश्य सोचेगा। वर्धमान का बचपन वास्तव में एक प्रयोगशाला थी, जहां वे अपने प्रत्येक चिन्तन और अनुभव का संग्रह कर उन्हें कसौटी में कस रहे थे। वे उस शक्ति को संजो रहे थे, जिसके माध्यम से आगे चलकर इसी बात को विश्वास-पूर्वक कहा जा सके।

महावीर के साथ सम्बद्ध चिन्ह की बात करके उनके बचपन की कथा समाप्त करूंगा। आप सब ने पढ़ा या सुना होगा कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के साथ कोई न कोई पशु या पक्षी का चिन्ह जुड़ा हुआ है। यह केवल तीर्थङ्करों की मूर्तियों को पहचानने के कारण नहीं जुड़ा, अपितु इसका गहरा कारण है। महावीर का चिन्ह सिंह है। कहा जाता है कि वे पूर्वभव में सिंह थे अतः इस जन्म में शरीर ग्रहण करने पर उनके दायें पग पर सिंह का चिन्ह अंकित था, जो उनके साथ जुड़ गया। किन्तु सिंह के चिन्ह का महावीर के साथ यह

संयोग अन्य बातों की ओर भी संकेत करता है। महावीर पूर्वभवों से तादात्म्य करने में सिद्धहस्त थे। पूर्वजन्म की स्मृति में आने पर वे उन सुखों की असारता पर विचार करते थे जो वे भोग चुके थे। और उन शक्तियों को प्राप्त करने में लग जाते थे, जिन्हें वे उस भव में नहीं पा सके। अतः महावीर ने जब अपने पूर्वभव 'सिंह' से तादात्म्य किया तो उन्हें अनुभव हुआ कि 'मैं सिंह हूं।' सिंह होने का अर्थ है—भीड़ से हटकर एकाकीगमन, विजय का अदम्य भाव तथा अभय की प्राप्ति। महावीर की साधना में ये तीनों गुण प्रधान रहे हैं। अतः महावीर का पर्यायवाची सिंह हो गया, जो एक गहन सत्य का उद्घाटक है।

वर्धमान बचपन से यौवन में कब प्रवेश कर गये किसी को पता नहीं चला। क्योंकि उनका बढ़ना बड़ा चुपचाप था। उन्होंने वह कुछ नहीं किया जो लोग वयसंधि में, यौवन के प्रारम्भ में करते हैं। राजा सिद्धार्थ महावीर के जीवन के उद्देश्य से परिचित थे। उन्हें यह आभास हो गया था कि इसका जन्म राजपाट के भोग के लिए नहीं हुआ। धार्मिक एवं वैचारिक क्रान्ति का यह जन्मदाता होगा। अतः यह उसी पथ की ओर अग्रसर है। इसलिए वे अधिक चिंतित नहीं थे, जितना जवान बेटे-बेटियों के बाप होते हैं। किन्तु ममतामयी मां त्रिशला को वर्धमान का इस प्रकार गुमसुम रहना, चिंतन करते रहना, किसी प्रकार की जिद न करना अच्छा नहीं लगता था। उन्होंने जाना ही नहीं कि लड़के मां-बाप को कैसे परेशान करते हैं। अतः जब उनका मातृत्व सुप्त-सा होने लगा तो उन्होंने वर्धमान को सांसारिक बनाने का निश्चय किया।

एक कथा आती है कि मां त्रिशला ने वर्धमान के मन को संसार की ओर आकर्षित करने मे संगीत को अधिक उपयोगी समझा। स्वयं आयोजिका बनकर उन्होंने राजभवन की रंगशाला में प्रसिद्ध संगीताचार्य कन्दर्प और सोम को आमन्त्रित किया। ये दोनों गन्धर्व अपनी-अपनी कला के लिए देश-देशान्तरों में विख्यात थे। कन्दर्प भोगरागों का विशेषज्ञ था तो सोम योगरागों का। एक का विषय शृंगार था तो दूसरे का शान्त। अतः उन्हें सुनने के लिए संभ्रान्त नागरिकों की भीड़ उमड़ पड़ी। दर्शकों में वर्धमान भी अपने साथियों के साथ

उपस्थित थे। कला को वे आत्म-पुरुषार्थ की जागृति का साधन मानते थे।

सर्वप्रथम आचार्य कन्दर्प ने विभिन्न भोग-रागों का आलाप किया। दर्शक मन्त्रमुग्ध हो गये। वर्धमान तटस्थ बने रहे। किन्तु उनकी तटस्थता त्रिशला से छिपी न रही। वे वर्धमान को प्रसन्न देखना चाहती थीं। अतः कुछ समय बाद उन्होंने आचार्य सोम को रंगमंच पर आमन्त्रित किया। सोम ने तन्मय होकर ऐसा गाया कि दर्शक शान्तरस में डूब गये। वर्धमान फिर भी निश्चल थे। किन्तु उनकी आंखों में एक चमक थी, जो किसी राह का अन्वेषण कर रही थी। मां त्रिशला को जब उस राह का भान हुआ तो उनकी ममता विचलित हो उठी। उन्होंने कार्यक्रम समाप्त करवा दिया। वर्धमान के प्रशान्त मन को और दृढ़-बन्धन में बांधने का वे उपाय सोचने लगीं।

सुगन्धित पुष्प की सुवास फैलते देर नहीं लगती। वर्धमान का सौन्दर्य, तारुण्य एव उनके गुणों की विलक्षणता वैशाली जनपद के अतिरिक्त पूर्व एवं पश्चिम के प्रान्तों में विख्यात थी। जब यह ज्ञात हुआ कि मां त्रिशला वर्धमान का विवाह करना चाहती हैं तो चारों ओर के राजाओं की ओर से विवाह के प्रस्तावों का ढेर लग गया। किन्तु कलिंग-जनपद के शासक जितशत्रु की कन्या यशोदा ने राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला का मन जीत लिया। जितशत्रु को अपनी स्वीकृत भेजने के पूर्व सिद्धार्थ ने कुमार वर्धमान से परामर्श कर लेना आवश्यक समझा। अत: अवसर पाकर उन्होंने कुमार से प्रसंग चलाया। वर्धमान पिता को क्या जवाब देते। वे उस स्थिति में पहुँच गये थे जहां नारी-पुरुष एवं पति-पत्नी का द्वैत तिरोहित हो चुका था। वर्धमान ने पिता की आंखों में झांक कर देखा। सिद्धार्थ को कुमार की आखों में जिस निसंगता के दर्शन हुए वहां विवाह की बात करना ही व्यर्थ था। उनके समक्ष त्रिशला द्वारा देखे गये स्वप्न उतर आये, जिनके परिणामस्वरूप वर्धमान को निर्धूम अग्नि होना है। मोक्षपथ का पथिक। अत: यह सांसारिक मोह का बंधन किस आशा मे बांधा जाय? सिद्धार्थ ने जोर नहीं दिया। वर्धमान को रानी त्रिशला के पास भेज दिया।

ममता अधिक प्रबल होती है। आशावती भी। पुत्र को प्रियकारिणी ने

बहुविध समझाया। माता-पिता एवं परिवार के प्रति पुत्र के दायित्वों का स्मरण कराया। यह भी कहा—'अभी तुम्हारी वय ही कितनी है ? तुम वैराग्य धारण करने में आत्मकल्याण देखते हो तो ले लेना सन्यास। बहुत लोगों ने लिया है। किन्तु समय आने पर। कुछ दिन तो ऐसा लगने दो कि मैं पुत्रवती हूं। तुम्हारा तो बचपन मैंने जाना नहीं। पता नहीं तुम किस मिट्टी के बने हो। तुम्हारी सन्तान की बाल-लीलाएं ही देखकर सन्तुष्ट हो लूंगी। क्या कहते हो, भेज दूं कलिंग-नरेश की दुहिता के लिए अपनी स्वीकृति ?

महावीर शान्तभाव से मां की बातें सुनते रहे। वे जानते थे ममता-मोह कोई तर्क नहीं सुनना चाहता। अतः उन्होंने इस समय एक अद्‌भुत प्रयोग किया। जैसे यदि कोई व्यक्ति तेज क्रोध में हो और उसे समझाया जाय कि क्रोध करना बुरा है, मत करो तो वह और भड़केगा। किन्तु क्रोध में विकृत उसके चेहरे को यदि दर्पण दिखा जाय तो वह शान्ति में लौटना प्रारम्भ कर देगा। महावीर ने मां त्रिशला को जातिस्मरण कराने का प्रयत्न किया। पूर्व जन्मों के उपस्थित होने पर उन्होंने बतलाया—'मां ! देखो तुम कितनी बार पुत्रवती हुई हो। कितने बच्चों को तुमने गोद खिलाया है। कितनी बहुओं की सास बनी हो। कितने विवाह तुमने किये हैं। बोलो, तुम्हें सन्तुष्टि हुई है कभी ? फिर क्यों एक और संख्या बढ़ाना चाहती हो। मैंने सामान्य से सामान्य प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाया। फिर भला तुम्हें क्यों दुखी करूंगा। आग्रह करना मैंने नहीं सीखा। जो तुम्हें रुचे, कर सकती हो। किन्तु सोचो क्या इस सबसे मेरी यात्रा रुक जायेगी ? बांध बांधने से जल का स्वभाव बहना समाप्त तो न हो जायेगा ? फिर मेरे निमित्त किसी एक और प्राणी को विरह, मोह में डालना तुम्हारे कर्मों में वृद्धि ही करेगा। और तुम तो श्रमणोपासिका हो। तुम्हारे धर्म एवं कर्तव्य के सम्बन्ध में मैं क्या समझाऊं ?'

त्रिशला उसी तरह निरुत्तर हो गयीं जैसे कोई गुरु अपने शिष्य की विद्वत्ता से पराजित हो गया हो। पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित होने के नाते त्रिशला ने सोचा—'वर्धमान का आत्मकल्याण का मार्ग ही ठीक है। मुझे

रुकावट नहीं डालना चाहिए।' उनकी ममता ने विचार किया—'अभी वर्धमान की तरुण अवस्था प्रारम्भ ही हुई है। मन कच्चा है। बदल भी सकता है। अतः आग्रह नहीं करना चाहिए।' और अपने लाड़ले की बात मानकर उन्होंने जितशत्रु को विवशता दर्शाते हुए अपनी अस्वीकृति भेज दी। इस प्रकार महावीर के विवाह का प्रसंग टल गया। उनका वैरागी मन निर्द्वन्द और निस्कंटक हो गया।'

आचार्य कश्यप ने कथा रोककर कनकप्रभा की ओर देखा। उसकी आंखों के सरोवर में प्रश्नों के कमल तैर रहे थे। कांप रहे थे होंठ कुछ कहने के लिए। आचार्य का संकेत पाते ही उसका स्वर उबलपड़ा—'आचार्यप्रवर! धृष्टता क्षमा हो। आप पुरुषों का कथा कहने का एक ही स्वर है। चाहे वह इतिहास की हो, धर्म की हो, शिल्प या कला के चातुर्य की। हर जगह स्त्री बन्धन है, बाधा है, मोह है और न जाने क्या-क्या। गुरुदेव! क्या पुरुष स्त्री का बन्धन नहीं है? उसके मुक्तिपथ का कटक नहीं है? फिर यह स्त्री से भागने का इतिहास कैसा? बुद्ध पत्नी को सोती हुई छोड़कर चले गये। वर्धमान ने विवाह को ही अस्वीकार कर दिया। यही है उनकी महावीरता? आखिर क्यों?'

कनकप्रभा के इस साहस से शिल्पी-समुदाय में सन्नाटा छा गया। इतनी बेलाग बात तो वे स्वयं अपने गुरुदेव से कभी नहीं कर सके, जैसी यह अतिथि कलाकार कर रही है। चित्रांगद और श्रीकंठ कनकप्रभा को एकटक देखते रह गये। क्रोध से तमतमाते उसके चेहरे को। उसकी प्रगल्भता को। इन सबसे अलग आचार्य कश्यप शान्त थे। आंख-मींचे प्रश्नों की गहराई का अनुभव कर रहे थे। चिंतन का क्षण टूटते ही बोल उठे—

'आयुष्मति! साधुवाद तुम्हारी तर्कशीलता पर। नारी जीवन पर इतिहास की क्रूरता व कटाक्षों के उत्तर देने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। नारी के प्रति बुद्ध का अपना दर्शन था। अपनी अनुभूति। तादात्म्य मेरा महावीर की चेतना से है। उनकी बात कह सकता हूँ। महावीर ने विवाह करने से इन्कार इसलिए किया कि उनकी अहिंसा की परिधि उसे स्वीकार न कर पाती। उनके युग में पति होने की धारणा थी—स्त्री पर स्वामित्व,

एकाधिकार। अब तुम्हीं सोचो, जो व्यक्ति अचेतन पदार्थों पर अपना स्वामित्व, अधिकार नहीं रखना चाहता वह एक जीवित स्त्री का मालिक कैसे हो सकेगा? महावीर के सामने नारी की निकटता और त्याग का प्रश्न नहीं है। स्वयं के अहंकार के विसर्जन का संकल्प है। घर में वे इस प्रकार रहते थे जैसे न हों। उनकी इस अनुपस्थिति से अभी माँ, बाप ही चिंतित रहते हैं। सन्तान के प्रति मोह जागृत कर अपने कर्मों की वृद्धि करते हैं। विवाह होने पर पत्नी भी इसमें सम्मिलित हो जायेगी। महावीर की यह दृष्टि थी! वे इस जन्म में जीवों को कर्मों से मुक्ति पाने का मार्ग बताने आये थे, कर्मों का संचय कराने नहीं। महावीर तुम्हारी बात ही सोच रहे थे। नारी के संयोग से उन्हें अपनी मुक्ति का भय नहीं था। वे अपने कारण किसी नारी की मुक्ति की अवधि लम्बी नहीं करना चाहते थे।

इस बात पर भी सोचो विवाह क्यों होता है? इसलिए कि नारी एवं पुरुष दोनों कहीं न कहीं अपूर्ण हैं, उनके संयोग से परस्पर में पूर्णता की प्राप्ति हो। महावीर तो इस अपूर्णता से कब के ऊपर उठ चुके थे। देह और आत्मा की भिन्नता का जब से उन्होंने अनुभव किया, देह की आवश्यकताओं की पूर्ति करना उन्होंने छोड़ दिया था। उनके सम्पर्क में आकर कोई अपने को पूर्ण कर सकता था, उन्हें पूर्ण होने के लिए किसी की अपेक्षा नहीं थी। फिर वे विवाह किसलिए करते? विवाह की तीसरी सार्थकता है संतान की प्राप्ति। इसके मूल में है व्यक्ति की वह आकांक्षा, जिसमें वह अपने अंश को सुरक्षित रखना चाहता है। जिन इच्छाओं की पूर्ति वह स्वयं नहीं कर सका उनकी पूर्ति सन्तान के माध्यम से करना चाहता है। इच्छाओं के संग्रह का इतना लम्बा जाल महावीर कैसे स्वीकार कर लेते? इच्छाओं के विसर्जन के लिए ही तो उनकी साधना थी। अतः उन्होंने जिस पथ का अनुसरण किया वह उनकी महावीरता का ही द्योतक है। आयुष्मति! नाराज तो नहीं हो?'

'गुरुदेव! अपने अज्ञान पर लज्जित हूं। ज्ञात नहीं था, महावीर के जीवन में आप का इतना प्रवेश है। आचार्यप्रवर! आगे की कथा कहें।' कनकप्रभा यह कहकर अपने आसन पर बैठ ही नहीं पायी थी कि शिल्पीसंघ से एक प्रश्न और उभरा—'समाधानों के इस दौर में इस अन्तेवासी को

भी कृतार्थ करें गुरुदेव ! जैनधर्म की श्वेताम्बर परम्परा महावीर के विवाह को स्वीकार करती है। कहते हैं, उनके 'प्रियदर्शनी' नाम की एक पुत्री भी हुई थी जिसका 'जामालि' नामक विचारक से हुआ था। आचार्यप्रवर ! एक ही धर्म की दो परम्पराओं में ऐसा विरोध क्यों ?'

'भद्र श्रीकण्ठ ! विरोध होने पर ही तो परम्परा बनती हैं किसी धर्म में। यह स्वाभाविक है, क्योंकि प्रत्येक महापुरुष के जीवन का मूल्यांकन करने के लिए हर व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। जिसकी दृष्टि का जो पैमाना होता है तदनुसार वह तथ्यों की गहराई तक पहुँच पाता है। जिस प्रसङ्ग की तुम बात कर रहे हो वह श्वेताम्बरों के 'कल्पसूत्र' नामक ग्रंथ में उल्लिखित है। उसके पूर्व के ग्रंथों में नहीं। महावीर को विवाहित मानने के कारणों पर विचार करें तो बात स्पष्ट हो सकेगी। प्रमुख कारण यह है कि महावीर की अहिंसा का अर्थ—'किसी भी प्राणी का मन न दुखाना, उस समय तक निश्चित हो चुका था। अतः जो व्यक्ति छोटे से छोटे प्राणी के प्रति करुणावान् है, वह अपने माता-पिता की भावना को ठेस कैसे पहुंचायेगा ? उनकी किसी बात का विरोध कैसे करेगा ? इसलिए जब माता-पिता ने कहा, उन्होंने विवाह कर लिया। जब तक वे जीवित रहे, महावीर ने गृहत्याग नहीं किया, आदि। इन बातों को श्वेताम्बर परम्परा ने इसलिए दृढ़ता से स्वीकार किया ताकि महा-वीर की करुणामय अहिंसा एवं अनाग्रही वृत्ति अधिक उजागर हो सके।

इस प्रसङ्ग को स्वीकार करने में दूसरा कारण तत्कालीन सामाजिक प्रभाव है। समाज में मर्यादापुरुषोतम राम के आदर्श प्रचलित थे। माता-पिता के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ एवं आज्ञाकारी के रूप में। ब्राह्मण परम्परा के एक आदर्शपुरुष के समकक्ष महावीर को गृह-दायित्वों से पलायन करने वाला कैसे मान लिया जाता ? अतः उनमें वे सभी गुण प्रतिष्ठित किये गये जो एक महापुरुष में होना चाहिए। यद्यपि इन सभी गुणों और विशेषताओं की उपलब्धि महावीर को पिछले जन्मों में हो चुकी थी। इस अंतिम जन्म में वे इन सबसे ऊपर उठने आये थे सो उठे भी। किन्तु वहां तक दृष्टि कुछ ही साधकों की पहुंच पायी है।

महावीर के जीवन से इस मान्यता के जुड़ने तक भगवान बुद्ध द्वारा पत्नी

और पुत्र को सोता हुआ छोड़कर गृहत्याग की कथा अभी पुरानी नहीं पडी थी। वह महापुरुष कैसा, जो कठिनाईयों से भाग खडा हो ? अतः महावीर के जीवन के साथ जैसे चंडकौशिक सर्प, कीलें ठोकने वाला ग्वाला, स्थाणुरुद्र, आदि की कथाएं जुड़ीं वैसे ही उनकी त्यागवृत्ति, कर्त्तव्यपरायणता एवं कारुणिकता को उजागर करने के लिए उनके भरे-पूरे परिवार की प्रतिष्ठा की गयी। पत्नी, पुत्री, दामाद इन सबको त्यागकर महावीर निकल पड़े। कितने बड़े त्यागी, ? किन्तु वास्तविकता यह थी कि उन्होंने राजसी वैभव, राजभवन, परिवार के सदस्यों के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारा था, त्याग किसका करते ? इन सबकी असारता का बोध जिस दिन पूर्ण रूप से सघन हो गया उस दिन वे इनसे बाहर हो गये। पुनः उनमें फंसने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रसंग में एक बात यह भी नजर आती है कि यदि महावीर का विवाह हुआ होता तो गृह-त्याग के बाद ४२ वर्षों के तपस्वी जीवन में कहीं तो यशोदा से उनकी भेंट होती ? किसी स्थान पर उनकी पुत्री ने उन्हें आहार दिया होता ? और कुछ नहीं तो इतिहास ही उनकी अल्पायु के सम्बन्ध में कुछ कहता ? किन्तु इस प्रसंग की जितनी अर्थवत्ता थी, उतना ही इसके साथ हुआ।

भद्र श्रीकण्ठ ! इतना और समझ लें, हर महापुरुष अपने समय के बाद स्वयं के अनुयायिओं द्वारा निर्मित घेरों में जीवित रहता है। चाहे वे उसे अलौकिक बनायें या ससारी। किन्तु उसकी गुणवत्ता में कोई कमी नहीं आती। अतः यदि महावीर के व्यक्तित्व को गहरायी से समझना है तो कम से कम इतने दायरे तो बनायें, जिनमें सहजता से विचारों का आदान-प्रदान हो सके। तुमने इस प्रश्न को उठाकर मुझे और चिंतन का अवसर दिया। मैं प्रसन्न हूं। किन्तु कुछ थक भी गया हूं। अतः आगे की कथा अब मध्यान्ह में कह सकूंगा। तब तक आप सब भी विराम कर लें।

●●

६. अभिनिष्क्रमण

मध्यान्ह के अंतिम प्रहर में शिल्पीसंघ पुनः एकत्र हुआ। इसके पूर्व अवकाश के क्षणों में आचार्य द्वारा कथित अब तक की कथा के सम्बन्ध में वे सभी कलाकार विचार-विमर्श कर यहां आये थे। आगे की कथा के प्रति अब वे पूर्ण सजग थे और उत्सुक भी। आचार्य अपने आसन पर बैठे हुए ध्यानमग्न थे। उनके सौम्य चेहरे को देखकर लगता था वे वैशाली के आस-पास विचरण करते हुए भगवान महावीर के प्रसगों को वातावरण से समेट रहे हैं। नयन खुलते ही उन्होंने कथासूत्र को सम्हाल लिया—

'महावीर माता-पिता को विवाह के प्रति अपनी विरक्ति के भाव बतलाकर निश्चिंत नहीं हो गये थे। उनकी चिन्तन की यात्रा और गतिशील हो गयी। अपने जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने सोचा—मैं आज जिन क्षणभंगुर पदार्थों और रिस्ते-नातों के बीच हूं, उन्हें कितनी बार भोगा है? क्रमशः उनके स्वरूप को जब जान पाया तो लगा इनसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है? और तब मैंने उसे खोजने की यात्रा प्रारम्भ कर दी जो मेरा था। मेरा है। पूर्व जन्म के अनन्त भव आत्मा के स्वरूप को अनुभव करने में लग गए। आत्मा और ज्ञान की अभिन्नता से परिचित होते ही यह सारा संसार अज्ञान और मोह से पीड़ित नजर आने लगा। मैं क्रमशः इस बन्धन से विलग होने लगा। और आज इस स्थिति तक पहुंच पाया हूँ कि स्वयं को सत्य की उपलब्धि के समीप पाता हूँ।'

कभी वर्धमान अपने युग की स्थिति, वातावरण के सम्बन्ध में सोचने लगते तो पाते कि लोग धार्मिक क्रियाकाण्डों और दार्शनिक मत-मतान्तरों में बुरी तरह फस गये है। दूसरी ओर कुछ ऐसे विचारक भी हैं, जो इस प्रकार के विकृत धार्मिक क्रियाकाण्डों से मुक्ति तो चाहते हैं किन्तु उन्हें सही रास्ता नहीं मिल रहा है। प्रत्येक विचारक क्रान्ति का स्वयं अगुआ बनना चाहता

है। इस धार्मिक अशान्ति का समाधान उसके पास भी नहीं है। इन सब विचारकों के प्रयत्नों का समन्वय कैसे हो ? किस प्रकार समाज को एक सरल एवं पुरुषार्थी धर्म की प्राप्ति हो, महावीर इस पर गहरायी से चिंतन करते रहते।

जब कभी उनकी दृष्टि सामाजिक दशा पर उठ जाती तो उनका हृदय करुणा से भर जाता। वे देखते कि किस प्रकार समाज का एक वर्ग सब पर छाया हुआ है ? शिक्षा, सुविधाएं एवं स्वतन्त्रता किसी एक वर्ग तक ही सीमित हो गयी हैं। और सबसे बड़ी बात यह है कि समाज का आर्थिक पक्ष ही कटा जा रहा है, जो किसी भी समाज के विकास के लिए अनिवार्य है। तत्कालीन राजनीतिक दशा उन्होंने बहुत समीप से देखी थी। साम्राज्य-वादी प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व ही समाप्त होता जा रहा है, जिसके मूल में है परिग्रही और भयात्मक प्रवृत्तियों की प्रबलता।

समाज की इन परिस्थितियों के प्रभाव से मानव-मानव के बीच बहुत अन्तर आ गया है। कैसे होगा मेरी साधना एवं ज्ञान का इन सबके कल्याण में उपयोग ? मेरे पूर्व इतने तीर्थङ्कर हुए हैं। प्रत्येक ने जनहित के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न किये हैं। किन्तु मेरे समय की स्थिति विकट है। अतः मुझे निश्चित रूप से कुछ नया करना होगा। भले उसकी साधना में यह जीवन लगा देना पड़े। मुझे अब इन सब व्यवधानों के आगे निकलना होगा और लगना होगा आत्मशुद्धि की दिशा में एकाग्र हो। तभी यह उपलब्ध हो सकेगा, जिससे स्वयं मुझे और इस अशांत जगत् को अपना लक्ष्य प्राप्त होगा। इस प्रकार महावीर के मन में वैराग्य की तरंगें चंचल हो उठी थीं। उनके उफान से सासारिक बन्धनों का किनारा ढहने ही वाला था।'

'प्रायः महापुरुष जगत् की आवश्यकता हुआ करते हैं। इसलिए जगत् की शक्तियां, वातावरण जो चाहें सो उनसे कार्य करालें। वे स्वयं कुछ यहां करने नहीं आते। महावीर का वैराग्य जब इतना प्रबल हो गया तो लोकान्तिक देवों ने आकर उनसे प्रार्थना की—'प्रभो ! आपने इस संसार का कल्याण करने के लिए इस जन्म को धारण किया है। आपका मन स्वयं वीत-रागता की उपलब्धि हेतु संकल्पित है। अतः आप अपनी साधना और ज्ञान

द्वारा जगत् को वह प्रकाश दें, जिसकी वह प्रतीक्षा कर रहा है। आप स्वयं कारुणिक हैं। आपका अभिनिष्क्रमण अब निकट ही है।'

देवों की इस प्रकार की वन्दना से महावीर साधना में प्रवृत्त होने के लिए और आतुर हो गये। उनके इस संकल्प का समाचार इन्द्र को अवधिज्ञान से प्राप्त हुआ। वह महावीर की जन्मभूमि कुण्डलग्राम में आ पहुँचा तथा अनेक उत्सवों एवं आयोजनों को हर्षपूर्वक सम्पन्न करने लगा।

महावीर अपने अभिनिष्क्रमण के प्रति जितने ही मौन थे, उतनी ही वैशाली के घर-घर में उसकी चर्चा होने लगी। परिपक्व बुद्धि के लोग वर्धमान के इस संकल्प की प्रशंसा में व्यस्त थे। वे सिद्धार्थ और माता त्रिशला को ऐसे सुपुत्र की प्राप्ति के लिए धन्य समझ रहे थे। कुछ ढलती उमर के लोग चिंतित थे कि देखो, इस बुढ़ापे में सिद्धार्थ को पुत्र से कोई सहारा न मिला। बच्चों को पता नहीं था कि यह क्या हो रहा है? किन्तु वे खुश थे कि देखो कितने उत्सव हो रहे हैं। किशोरवय के लोगों को महावीर से स्पर्धा हो रही थी। कितना तेजस्वी है इसका स्वरूप, इसकी कान्तिमयी देह? किशोरियां फुस-फुसा रही थीं—हाय! हतभाग्या यशोदा? ऐसा जीवनसाथी हाथ से निकल गया। इनके ये वन जाने के दिन हैं? प्रौढ़ा महावीर से एक बात करने को तरस गयीं। इतने दिन ये राजभवन में बन्द रहे और अब निकलेंगे तो मौन हो जायेंगे। माताएँ, जननी त्रिशला के दुख की कल्पना कर रही थीं। जितने लोग, उतनी ही बातें।

यह तो नगर की स्थिति थी। राजभवन की तो बात ही मत पूछो। एक विषाद-सा छा गया था। जिसे देखो वही चुप। इशारों का साम्राज्य हो गया था। जैसे इस सबसे महावीर रुक जायेंगे। परिजनों ने जाना ही नहीं था कि वर्धमान की उन्होंने कोई सेवा की है। परिचारिकाएं अपनी-अपनी कलाएं भूलने लगीं थीं। महावीर ने कोई अवसर ही नहीं दिया उन्हें अपनी आज्ञा-पालन करने का! और अब यह व्यक्ति हमेशा के लिए चला जायेगा। सभी हैरान थे। निश्चिन्त थे तो मात्र सिद्धार्थ। उनके समक्ष स्वप्नमाला अब साकार हो रही थी। उन्होंने सोचा—'वर्धमान अपने लक्ष्य पर ही जा रहा है। वह मुझसे अच्छी तरह जानता है कि उसे क्या करना है। वह प्रज्ञा और अनुभव

में मुझसे बड़ा है। दिनोंदिन और बड़ा होगा। किसी पिता का इससे बड़ा और क्या सौभाग्य होगा कि उसका पुत्र उससे श्रेष्ठ निकला। आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो।'

यह कहते हुए आचार्य कश्यप का गला रुंध आया। क्षण भर विराम के लिए वे रुके। तभी कनकप्रभा ने पूछ लिया—'गुरुदेव! माता त्रिशला को इस समय कैसा लगा?'

'आयुष्मति! तुम इसकी कल्पना अच्छी तरह कर सकोगी कि एक नारी को प्राणों से प्रिय पुत्र के विछोह का दुख कितना हुआ होगा? मां त्रिशला ने जैसे ही वर्धमान के इस आध्यात्मिक प्रयाण का समाचार सुना, उनकी ममता बावली हो उठी। प्राण सकट में फस गये। वे सोचने लगीं—'यही दिन देखने के लिए मैंने वर्धमान को जन्म दिया था? उसे जन्में उन्तीस वर्ष हो गये। मैंने उसके कोमल चरणों के नीचे धूल नहीं लगने दी। वही अब बीहड़ पर्वतों में घूमेगा? मेघ गरजते थे तो मैं भवन के सारे वातायन बन्द करा देती थी कि मेरा लाड़ला कहीं गर्जन से डर न जाये। वह अब सिंहों की गर्जना और हाथियों की चिंघाड़ को सुनता फिरेगा? कैसे सहेगा वह मूसलधार वर्षा, पत्थर गला देने वाली ठंड और भस्म कर देने वाली प्रचंड गर्मी? यहां तो वह दस बार मनाने पर नाममात्र को भोजन करता था, वहां क्या खायेगा जंगलों मे?' इन सब आशंकाओं से रानी त्रिशला का रोम-रोम काप उठा। वात्सल्य की तीव्रता से वे मूर्छित हो गयीं।

परिचारिकाओं के उपचार के बाद जब वे सचेत हुई तो मूर्छा के साथ उनका वात्सल्य-मोह भी टूटने लगा। उन्हें पति सिद्धार्थ द्वारा कथित स्वप्नों के परिणाम याद आने लगे। उन्होंने वर्धमान को आत्मकल्याण का पथिक और धर्म-प्रवर्तक होना बतलाया था। अतः यह कुछ अनहोनी नहीं है। इस विचार के आते ही वे वर्धमान के जन्म से अपने को सार्थक मानने लगी। और उस सुपुत्र के दर्शन करने को लालायित हो उठीं, जो उनसे जन्म लेकर भी अब उनका नहीं था। वहां उपस्थित देवों ने भी माता त्रिशला को अपने वचनों द्वारा सान्त्वना दी और कहा—'जगदम्बे! आप एक लोकोद्धारक विभूति को जन्म देकर धन्य हो गयी हैं। वर्धमान तीर्थंकर हैं। वे सभी

प्रकार के परिषहों को जीतने में समर्थ होते हैं। अतः आप उनके दुख की कल्पना से चिंतित न हों। बल्कि उन्हें आशीष दें कि वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हों।'

तभी वहां राजा सिद्धार्थ भी आ गये । प्रियकारिणी से दृष्टि मिलते ही बोले-'हां' त्रिशले ! हमें अब यही करना चाहिए। चलो, वर्धमान का जैसा हमने जन्मोत्सव मनाया था, वैसे ही उनके निष्क्रमण की तैयारी करें ? मन मे ममता और आंखों में घिरे सावन-भादों वाली त्रिशला अब क्या उत्तर दे? वह सबके साथ चल दी ।

देवयोनि की सार्थकता इतनी है कि देवों को तीर्थङ्करों के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में न केवल सम्मिलित होने अपितु विभिन्न उत्सवों का आयोजन करने का सौभाग्य भी प्राप्त होता है। वर्धमान का अभिनिष्क्रमण हुआ तो देव उसमें सबसे आगे थे। उन्होंने 'चन्द्रप्रभा' नाम की पालकी सजायी। वर्धमान को वस्त्राभूषण पहनाकर उसमें बैठाया और गाते-बजाते राजभवन से निकल पड़े। वे क्या निकले, सारा राजभवन ही सूना हो गया। राजकुटुम्ब, राज्याधिकारी, सम्भ्रान्त नागरिक, जिसने भी सुना वही उनके पीछे हो लिया।

मार्गशीर्ष शुक्ला १०वीं (ई. पू. ५६६) के दिन का चौथा पहर कुण्ड-ग्राम के लिए हर्ष और विषाद का प्रतीक बन गया। नागरिक भीड़ में सम्मिलित थे, किन्तु उनकी समझ में न आ रहा था कि वे अपने प्यारे राजकुमार के वनगमन, गृहत्याग पर दुखी हों अथवा मानव कल्याण जैसे कार्य के लिए अपना जीवन समर्पित करने वाले इस सपूत पर फूले न समायें ? थोड़ी ही देर बाद उनके मोह पर उनकी सद्बुद्धि की विजय हो चुकी थी और उनकी जयघोषो से सारा राजमार्ग गूंज उठा।

उस क्षत्रिय कुण्डपुर के बाहर थोड़ी ही दूर पर 'ज्ञातखण्ड' नामक उद्यान था। चारों ओर हरा-भरा तथा पुष्प एव लताओं से रमणीक। उसी के एक कोने में अशोकवृक्ष के नीचे वर्धमान की पालकी उतारी गयी। वह भूखण्ड वर्धमान के तेज से आलोकित हो उठा। बिम्बवधुओं ने आरती उतारी। देवताओं ने उत्सवों से जंगल में मंगल कर दिया। वर्धमान अभी तक इस

आयोजन में मौन भाव से सम्मिलित थे। जिसने जो कहा सो करते रहे। किन्तु उनका मन वीतरागता में ही लीन था। उद्यान में आते ही वे प्रमुदित मन से पालकी से उतरे और एक शिलाखण्ड पर, जिस पर स्वस्तिक अंकित था, बैठ गये।

बिना किसी आकुलता के पल भर में साथ आये जनसमूह से उन्होंने विदा ली और इस संसार के बन्धनों से मुक्त हो गये। देह की शोभास्वरूप जो भी उपकरण थे— वस्त्र, आभूषण, केश उन्हें क्रमशः उन्होंने उतार फेंका। पांच मुट्ठियों में भरकर उतारे गये सिर के केश मानों प्रतीक थे। उस कर्मकालिमा के, जो पांच व्रतों के पालन से क्रमशः धुल जाती है। वर्धमान का वस्त्र, आभूषणों से विमुक्त शरीर अपने असली स्वरूप में आकर मानों कह रहा था कि संसार की प्रत्येक वस्तु को तब तक जानने का प्रयत्न करो जब तक उस पर कोई आवरण शेष न रहे।

इस प्रकार सिद्धों को नमस्कार कर उस शुभमुहूर्त में वर्धमान पद्मासन मुद्रा में आसीन हो गये। आत्मा की अनन्त गहराईयों में विचरण करने लगे। उन्हें देख लगता था जैसे उन्होंने प्रतीक्षित निधि पा ली है। जैसे कोई आत्म-सिन्धु का तलस्पर्शी अन्वेषक उसकी अतल गहराईयों से ज्ञान के मोती बटोर रहा हो। यह सब उस पद्मासन मुद्रा का ही प्रभाव था। भद्र! तुम सब जानते हो मूर्तिकला और चित्रकला में इस पद्मासन मुद्रा को कितना महत्व-पूर्ण स्थान मिला है। क्योंकि आत्मा से साक्षात्कार करने का यह प्रमुख साधन था। और महावीर की यात्रा इसके लिए ही थी।'

'आचार्यप्रवर! उस आत्म-अन्वेषक यात्री को सादर प्रणाम के साथ एक समाधान का आकांक्षी हूँ। क्या सचमुच इतने बड़े राजपाट, धन-वैभव, सुख-संपदा और स्नेही परिवार का त्याग उन्होंने पलभर में कर दिया था? तनिक भी मोह नहीं हुआ उन्हें? फिर भी उन्हें 'महावीर' तो कहा गया, 'महात्यागी' नहीं'?

'भद्र चित्रांगद! तुम्हारा सोचना ठीक है। बिल्कुल वैसा ही, जैसा एक संसारी व्यक्ति सोच सकता है। महावीर को 'महात्यागी' नहीं कहा गया इसका गहरा कारण है। वास्तव में उन्होंने कुछ त्यागा ही नहीं। त्यागते तो वे हैं,

जिनके पास कुछ होता है । महावीर के चारों ओर जो कुछ वैभव, सुख-सम्पदा हमें दिखती है वह हमारे भोगी होने के कारण है । हम में उन सब सांसारिक वस्तुओं के संग्रह करने की लालसा है । इसलिए वे बड़ी कीमती दिखती हैं । और लगता है कि जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए हम मर मिटते हैं, उन्हें महावीर ने कैसे त्याग दिया ? यह हमारी दृष्टि का भ्रम है, जिसे महावीर कब का तोड़ चुके थे ।

'महावीर दो कारणों से सांसारिक सम्पदा के स्वामी नहीं थे । प्रथम, वे निर्भय थे, अतः अपनी सुरक्षा के लिए उन्होंने किसी वस्तु का संग्रह नहीं किया । दूसरे वे यह भी जान चुके थे कि इन वस्तुओं की आत्मकल्याण के लिए कहीं कोई सार्थकता नहीं है । अतः ये मेरी नहीं हैं । यही भाव उनका परिवार के सदस्यों के प्रति था, राजभवन के प्रति था और जो भी उनसे अपने को सम्बन्धित मानता था उसके प्रति था । अतः जिस प्रकार हम रास्ते में मील के पत्थरों को छोड़ते हुए गन्तव्य की ओर बढ़ते जाते हैं उसी प्रकार वर्धमान इन सब वस्तुओं के बीच निरपेक्ष भाव से गुजर गये । उनकी महावीरता भी किसी सर्प को पराजित करने अथवा कहीं पौरुष दिखलाने के कारण नहीं है, अपितु उन्होंने मानवमन की उन वृत्तियों को जीता है, जो आत्मकल्याण के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ने देती । अतः वे भोग को छोड़ने और त्याग को पकड़ने के कारण नहीं, बल्कि दोनों स्थितियों में आत्मस्वभाव के प्रति सजग बने रहने के कारण 'महावीर' हैं ।'

'भद्र श्रीकण्ठ ! कुछ दुविधा में दिखते हो । निःसंकोच चिंतन को गति दो ।'

'आचार्यप्रवर ! आप से क्या छिपा है ? महावीर वस्त्र त्यागकर दिगम्बर हो गये । पूर्ण अपरिग्रही होकर आत्मसाधना में लीन । फिर भी उनके अनुयायिओं की एक परम्परा यह क्यों मानती है कि कुछ दिनों तक वे वस्त्र धारण किये रहे, भले वह देवताओं के द्वारा दिया गया हो ?'

'बहुत अध्ययन किया है श्रीकण्ठ तुमने । तुम निश्चित रूप से अपनी कला द्वारा मेरी कल्पना को साकार कर सकोगे । अभी जैसे मैंने कहा कि भोग में पगी दृष्टि ने महावीर को भी सम्पत्तिशाली और वैभवशाली मान लिया और

फर उनका त्याग कराकर उन्हें अतिशय त्यागी स्वीकार कर लिया उसी प्रकार उन्हें निपट नग्न और सवस्त्र देखने वालों की भी अपनी दृष्टियां हैं। हो सकता है, जिन्होंने उन्हें उस अखण्ड व्यक्तित्व पर खड़े हुए देखा हो, जहां उघाड़ने के लिए कुछ बचा ही न हो। सब कुछ स्वच्छ, निर्मल, आकाश सा। आत्मा अलग और शरीर अलग। अब शरीर को संभारने वाला रहा ही कौन? अतः उन्हें महावीर की काया प्राकृतिक रूप में ही दिखायी पड़ेगी। और जिन लोगों की दृष्टि महावीर के व्यक्तित्व के विशेष गुणों के मूल्यांकन में ही तृप्त हो गयी होगी, उनकी आंख महावीर की नग्नता तक पहुँची ही न होगी। महावीर जैसा महापुरुष नग्न कैसे होगा? अतः देवताओं द्वारा प्रदत्त वस्त्र का कथानक उनके साथ जुड़ जाना स्वाभाविक है। और जैसे-जैसे महावीर की साधना सघन हुई वह देवदूष्य भी उनसे विलग हो गया। वास्तव में महावीर किसी वस्तु को छोड़ने के प्रति आग्रही नहीं रहे, क्योंकि उन्होंने किसी को पकड़ ही न रखा था। उनकी साधना में जब वस्त्र छूट गया जब भोजन छूट गया और जब स्वयं शरीर का ममत्व तिरोहित हो गया वे छोड़ते चले गये। यही उनकी अनासक्ति की अभिव्यक्ति है। अपरिग्रह का विस्तार।'

'कहते हैं कि महावीर जैसे ही पद्मासन होकर ध्यानमुद्रा में लीन हुए तथा पूर्णरूपेण श्रामण्य-जीवन व्यतीत करने का संकल्प किया, उन्हें मनःपर्यय ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। ऐसा ज्ञान, जिसके द्वारा दूसरे के अन्तःकरण के हलन-चलन को भी जाना जा सके। यह संकेत था, उस केवलज्ञान रूपी प्रकाश के प्रति समर्पित होने का, जिसकी उपलब्धि के लिए वर्धमान इस यात्रा पर निकल पड़े थे। धार्मिक जगत् में आत्मोपलब्धि के लिए प्रारम्भ की गयी यह अनोखी यात्रा थी।'

'आचार्यप्रवर! एक अनुरोध है मेरा। आज कथा को अब यहीं विराम दे दें। मेरा मन वर्धमान के साथ इस गुहा, इस उपत्यका से अभिनिष्क्रमण कर गया है। शायद इन कलाकार बन्धुओं का भी। हमें भी वैशाली के नागरिकों, त्रिशला, सिद्धार्थ और राजभवन के उस विषाद मिश्रित हर्ष में सम्मिलित होने दें, जिसे रंगों के माध्यम से हमें इन दीवालों पर अंकित करना है। और फिर आप भी तो क्लान्त हुए होंगे गुरुदेव! चलकर वेतवा के किनारे तक घूम

आर्ये।'

'भद्रे कनकप्रभा ! तुम ठीक कहती हो । चौदह सौ वर्ष पूर्व हुए महावीर के अभिनिष्क्रमण से आज यह वनखण्ड मुझे सूना लगता है। अद्भुत था वह महापुरुष, जो वातावरण में इतना संजोया हुआ है।' क्षणभर बाद वह गुहा सिद्धार्थ के राजभवन-सी नीरव हो गयी। कुण्डग्राम के राजमार्गों-सी सूनी।

●●

७. अभिव्यक्ति की खोज

आज शिल्पी-संघ गुहा के द्वार से थोड़ा हटकर एक मनोरम मैदान में एकत्र हुआ था। प्रातःकाल की कुनकुनी धूप सब के वदन सेंक रही थी। मैदान के एक छोर पर बडी शिला पर आचार्य कश्यप विराजमान थे। लगता था—गुहारूपी राजभवन से अभिनिष्क्रमण कर स्वयं महावीर इस वनखण्ड में ध्यानस्थ हो गये हैं। और अपने तपस्वी जीवन की, सत्य को प्रकाशित करने के माध्यम खोजने की कथा स्वयं कह रहे हैं—

'कलाकार मित्रों! भगवान महावीर तीस वर्ष की अवस्था में अब उस यात्रा पर निकल पड़े थे, जहां से उन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त करनी थी कि वे अपनी सत्य की अनुभूति को जनमानस तक पहुंचा सकें। अतः इस यात्रा में वे इतने घूमे-फिरे कि छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा व्यक्ति उनके सम्पर्क में आया। तरह-तरह के अनुभव उन्हें हुए। अनेक कष्टों को उन्होंने सहा। किन्तु यह सब कुछ उनके लिए कर्मों की निर्जरा का माध्यम था। इन सब घटनाओं के प्रति वे कृतज्ञ थे कि उन्होंने कर्मक्षय का उन्हे अवसर प्रदान किया। और उसकी उपलब्धि मे सहयोग, जिसके माध्यम वे जगत् को अन्धकार से प्रकाश में ला सके।

महावीर केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व लगभग १२ वर्षों तक तपश्चर्या करते रहे। इस अवधि का सम्पूर्ण इतिहास किसी एक ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं है। हो भी नहीं सकता था, क्योंकि ये सब अनुभव महावीर के निजी थे। किन्तु कुछ घटनाओं के आधार पर, कुछ संकेतों की व्याख्या स्वरूप उनके इस जीवन को क्रमबद्ध रूप में उपस्थित किया जा सकता है। यहां भी दोनों परम्पराओं में प्रचलित मान्यताओं का सहारा लेना पडेगा। उन तथ्यों का, जो सत्य के द्वार तक पहुंचने में सहायक होंगे। एक बात और ध्यातव्य है कि महावीर के इस तपस्वी जीवन में जिन ग्रामों, नगरों, जनपदों व व्यक्तियों के नाम परम्परा से प्राप्त होते हैं, उन सभी को ऐतिहासिक सिद्ध नहीं किया जा सकता और

न आज इतने समय बाद उनकी पहिचान ही की जा सकती है। इतना अवश्य है, संयोग से कुछ का अस्तित्व अभी भी मिल जाय। दूसरे, यह सब आवश्यक भी नहीं लगता। क्योंकि हमारा उद्देश्य महावीर के जीवन के उन सूत्रों को पकड़ना है, जिनसे जीवन में प्रकाश की सम्भावना है। वे कहां से प्राप्त हुए उन स्थितियों को समझना है। उनकी प्रामाणिकता पर विचार करना इतिहासज्ञों का कार्य है। इस प्राथमिक के साथ ही मैं आगे की कथा कह सकूंगा—

'एक मुहूर्त दिन शेष रहते महावीर उस वनखण्ड से निकल कर कमरिग्राम पहुंचे और वहीं रात्रि व्यतीत करने के विचार से ध्यान में खड़े हो गये। वे साधना में लीन थे अतः पूर्ण रूप से जाग्रत। उन्हें नींद लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। कहते हैं, उसी दिन सांयकाल किसी एक ग्वाने ने अपने बैलों की रक्षा का भार उन्हें सौंप दिया और वह कहीं कार्य से चला गया। लौटने पर उसे जब वहां बैल नहीं मिले तो उसने महावीर से पूछा। महावीर ध्यान में मौन थे। अतः उनके मौन के कारण उस ग्वाले का मन महावीर के प्रति शंका से भर गया। उसने बहुत से पाखण्डियों को इस प्रकार का कार्य करते देखा था। अतः वह खिन्न हो उन्हें रस्सी से मारने को प्रवत्त हुआ। तभी इस घटना के साक्षी इन्द्र ने उसे रोक लिया और महावीर का परिचय देकर उसे वहां से विदा किया। तदनन्तर इन्द्र ने महावीर से भी प्रार्थना की कि आपको इस साधनाकाल में अनेक कष्ट झेलने होंगे। अतः मुझे आप अपनी सेवा में रहने की आज्ञा दीजिए ताकि आपको ज्ञान की उपलब्धि निर्विघ्न हो सके। किन्तु तपस्वी महावीर ने इन्द्र को यह कह कर विदा कर दिया कि अर्हन्त अपने पुरुषार्थ और बल से ही केवल ज्ञान की स्थिति को प्राप्त होते हैं, किसी के सहारे नहीं। अतः मैं अकेला ही साधनापथ में विचरण करूंगा।

प्रातःकाल वहां से चल कर महावीर 'कोल्लाग' सन्निवेश में पहुंचे, जहां उन्होंने 'बहुल' ब्राह्मण के यहां क्षीरान्न से प्रथम पारणा की। वहां से विहार कर वे मोराक सन्निवेश में पहुंचे। वहां एक आश्रम के कुलपति ने उन्हें अपने यहां ठहरने का निमन्त्रण दिया। किन्तु महावीर वर्षावास में वहां पुनः आने की बात कहकर आगे चल दिये। विभिन्न स्थानों में उन्होंने शिशिर

और ग्रीष्म ऋतु में साधना की तथा वर्षा के प्रारम्भ होते ही वे पुनः उस आश्रम में लौट आये। किन्तु कुछ समय व्यतीत होने पर ही उन्हें लगा कि आश्रम का वातावरण उनके अनुकूल नहीं है। अतः वे वहां से भी चल पड़े और शेष प्रथम वर्षाकाल उन्होंने अस्थिक ग्राम में पूरा किया।

अस्थिक ग्राम का प्रथम वर्षावास भगवान महावीर के तापस जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहां रहते हुए उन्होंने आगामी भ्रमण के सम्बन्ध में कुछ निर्णय लिये। ऐसे स्थानों पर ठहरने का निश्चय किया जहां ध्यान में बाधा न पडे। महावीर ने मौन रहना ही श्रेयस्कर समझा, क्योंकि लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछकर उन्हें परेशान कर सकते थे। प्रश्नों का समाधान करना सरल था, किन्तु इससे आत्मध्यान में बाधा पड़ती थी। गृहस्थों से कोई विशेष सम्बन्ध न रखने का उन्होंने प्रयत्न किया।

कहा जाता है कि इसी ग्राम के परिसर में शूलपाणि नामक व्यन्तर का एक चैत्य था। महावीर जब उसमें ठहरने के लिए गये तो ग्रामवासियों ने उस व्यन्तर देव की भयानकता और क्रूरता से उन्हें परिचित कराया। किन्तु वे उनकी आज्ञा लेकर उसी चैत्य के एक कोने में ध्यान लगाकर खड़े हो गये। शूलपाणि ने महावीर की इस निर्भयता को अपना अपमान समझा और सांझ होते ही उसने अपने पराक्रम दिखाना प्रारम्भ कर दिये। भयंकर हाथी, पिशाच एवं विषधर नाग आदि के नाना रूप धारण कर वह देव उन्हें रात्रि भर कष्ट देता रहा। महावीर का तन आहत हो गया, किन्तु मन से वे पूर्ववत् ध्यान में मग्न रहे। फलस्वरूप शूलपाणि का हृदय परिवर्तित हो गया। उसकी क्रूरता विदा हो गयी। ग्रामवासी इस घटना को देखकर महावीर की साधना के प्रति श्रद्धा से भर उठे।

मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को महावीर ने अस्थिक ग्राम से वाचाला की तरफ विहार किया। वाचाला जाने के लिए कनकखल आश्रम पद से होकर जाना पड़ता था। भगवान महावीर जिस मार्ग से गये उस मार्ग में कहीं एक दृष्टिविष सर्प रहता था, जिसके नेत्रों से विष की ज्वालाएं निकलती थीं। यद्यपि गांव के ग्वालों ने महावीर को इस रास्ते से जाने को रोका था, किन्तु अभय और करुणा के धारक वर्धमान को इसकी क्या चिन्ता? वे उसी मार्ग

में एक देवालय के समीप ध्यानारूढ़ हो गये। सांयकाल जब सर्प अपने निवास स्थान पर लौटा तो इस निर्जन प्रदेश में एक मानव को देखकर शंकित हो उठा। उसने अनेक बार अपनी विषभरी दृष्टि से महावीर को भस्म करना चाहा। किन्तु जब सफल न हुआ तो उन पर झपट कर उसने उनके पैर के अंगूठे में काट खाया। उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने देखा कि महावीर के पैर से खून की जगह दूध निकल रहा है। जैसे ही उसने महावीर से दृष्टि मिलायी उसे सुनायी पड़ा—'समझ चण्डकौशिक! समझ।'

यह नाम सुनते ही उस दृष्टिविष सर्प का सब क्रोध जाता रहा। उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया, जिसमें वह किसी आश्रम का कुलपति था और अपने कर्मों के कारण इस रूप में जी रहा था। उसने महावीर के समक्ष प्रायश्चित किया और कुछ दिनों पश्चात् देह छोड़कर स्वर्ग में देव हो गया।

महावीर के साथ घटित इन प्रसंगों की अपनी अर्थवत्ता है। ऐसा लगता है कि महावीर की साधना का स्वरूप इतना अनोखा था कि उन्हें उस युग में पहिचानना कठिन हो गया था। तत्कालीन सभी धार्मिक विचारक किसी न किसी मत के प्रतिपादक थे। उन्होंने कुछ निश्चित चिन्ह पकड़ रखे थे। जो उनके अनुयायी थे वे उनकी सेवा करते थे और जो नहीं थे, वे किनारा काटकर अलग हो जाते थे। किन्तु महावीर के साथ यह दिक्कत थी। वे इतने वीतरागी हो गये थे कि साधारण लोग उनसे निकटता का अनुभव नहीं कर पाते थे। न तो ये किसी को सुख-सम्पदा की प्राप्ति कराते थे और न ही उनके कष्टों का प्रत्यक्ष निवारण करते थे। यही कारण है कि उन्हें अपरिचित-सा जानकर कभी कोई सता लेता था। कभी कोई प्रणाम कर लेता था।

तपश्चर्या के इस साधनाकाल में महावीर ने जो कठिन से कठिन रास्ता चुना है तथा लोगों के मना करने पर उन्हीं स्थानों पर रात्रि में ठहरे हैं, जहां किसी न किसी विघ्न की सम्भावना थी इसमें भी एक गहरा कारण है। वे यह जान लेना चाहते थे कि उनकी आत्मा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कितनी जागी हुई है? उनके सम्पर्क में आने वाली ऐसी आत्माओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है? साथ ही इन कथा-प्रसंगों से महावीर के आन्तरिक गुणों को भी ग्रहण करने में सुगमता होती है। सांप के काटने पर उनके

पैर से दूध निकलना चमत्कार भले लगे, अतिशयोक्ति भी, किन्तु वह इस बात का प्रमाण है कि महावीर में जीवों के प्रति अगाध ममत्व के भाव हैं। उनके साथ कोई कुछ भी करे, महावीर का प्रत्युत्तर करुणा ही होगा।

महावीर की साधना के इस दूसरे वर्ष की प्रमुख घटना है—मक्खलिपुत्र गोशालक का उनके साथ सम्बन्ध होना। कहा जाता है कि विहार करते हुए जब महावीर राजगिरि पहुंचे और पास के उपनगर नालन्दा में एक तन्तुवाय शाला में वर्षावास किया तो उसी समय वहीं पर गोशालक नामक एक मंख-जातीय युवा भिक्षु भी ठहरा हुआ था। महावीर के तप, ध्यान और आचरण आदि से गोशालक बहुत प्रभावित हुआ और उसने महावीर के शिष्य होने का निश्चय किया। किन्तु महावीर ने इसका कोई तत्काल उत्तर नहीं दिया। गोशालक निरन्तर उनके साथ लगा रहा।

एक बार कार्तिक पूर्णिमा का दिन था। भिक्षा-चर्या को जाते हुए गोशालक ने महावीर से पूछा—'आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा?' उन्होंने उत्तर दिया—'कोदों के तन्दुल, छाछ और कूट रुपया।' गोशालक महावीर की इस भविष्यवाणी को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए उस दिन धनाढ्य लोगों के यहाँ ही भिक्षार्थ गया। किन्तु वहां कुछ प्राप्त न कर सका। अन्त में एक कर्मकार ने उसे भिक्षा में वही दिया जो महावीर ने कहा था। इस घटना का गोशालक पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह सोंचने लगा वही होता है जो पहले से निश्चित होता है। इस प्रकार वह नियतिवादी हो गया। अपने इस विचार को और अधिक पुष्ट करने के लिए वह आजीवकों के उपकरण छोड़कर महावीर का शिष्य बन गया और निरन्तर उनसे इस प्रकार के प्रश्न पूछता रहा।

नालन्दा से विहार कर महावीर अपनी साधना के तीसरे और चौथे वर्ष में कोल्लाग सन्निवेश, सुवर्णखल, ब्राह्मणगांव, चम्पा, कलायसंनिवेश, कुमारा, चोराक एवं कयंगला आदि अनेक स्थानों पर भ्रमण करते रहे। गोशालक उनके साथ बना रहा। कभी वह पार्श्वपरम्परा के मुनियों से विवाद कर लेता तो कभी वैदिक परम्परा के साधुओं से। किन्तु महावीर उसे हमेशा समझाते रहते और आत्मध्यान का उपदेश देते थे।

इस प्रकार के भ्रमण में महावीर को अनेक कष्ट झेलने पड़े। कभी उन्हें कोई गुप्तचर समझकर पकड़ लेता तो कभी वे डाकुओं से घिर जाते। किन्तु महावीर कहीं प्रतिरोध न करते। उनकी इस मध्यस्थ वृत्ति के कारण एक ओर जहां तत्कालीन तपस्वियों को ईर्षा होती, वहां दूसरी ओर महावीर की साधना में श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियों की भी संख्या बढ़ती जा रही थी। कभी-कभार महावीर के पिता सिद्धार्थ के मित्र या परिचित लोग भी उनको मिल जाते। वे उनकी इस अपूर्व साधना को देखकर सिद्धार्थ के भाग्य को सराहने लगते।

महावीर ने अपने कष्ट निवारण के लिए किसी की सहायता नहीं ली। इसका भी एक कारण है। महावीर यह जानते थे कि जिस किसी के द्वारा मेरा शरीर सताया जाता है या जो मुझे उपसर्ग पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं, वे भले अपनी हानि कर रहे हों, किन्तु मेरा भला कर रहे हैं। उनके निमित्त से मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है। इस बात का गहन दर्शन है। यदि कोई किसी को सता रहा हो तो ऊपर से तो लगेगा कि वह व्यक्ति दुष्ट है। गलत काम कर रहा है। किन्तु इससे सताये जाने वाला उपकृत हो रहा है। उसके प्रति अपने कर्मों से अऋण हो रहा है। शायद यही कारण है कि एक दो प्रसंगों को छोड़कर महावीर ने अपने जीवन में शारीरिक दृष्टि से किसी की सहायता नहीं की। भले उनके अन्तस् की करुणा इससे अधिक कार्य करती रही हो। किन्तु इस गहराई का चिन्तन तभी आ सकता है, जब व्यक्ति अपने पूर्वजन्मों की श्रृंखला में जागृत होकर उतरे। महावीर ने अपनी साधना में इसी का प्रयत्न किया है।

अनार्य देश राढभूमि में विचरण कर महावीर ने अनार्य लोगों की अवहेलना, निन्दा, तर्जना और ताड़ना आदि को अनेक बार सहा। वे यदि किसी घर के बरामदे में रात्रि में खड़े होकर ध्यान करने लगते तो लोग उन्हें चोर समझकर भगा देते। वे जब भिक्षा लेने किसी द्वार पर पहुंचते तो दूसरे धर्म के साधु व भिखमंगे उन्हें धक्का देकर आगे सरका देते। किसी सराय आदि में यदि वे विश्राम के लिए रुकते तो उनके कान्तिमय शरीर और तारुण्य की लालची स्त्रियां उन्हें परेशान करने लगतीं। किन्तु महावीर इन सबकी उपेक्षा करते

रहे। उन्हें मात्र अपना लक्ष्य दिखता था, मार्ग के कंटक, कंकड़ नहीं। इसीलिए वे आगे बढ़ते रहे।

साधना के छठे वर्ष में कूपिय ग्राम से वैशाली की ओर जाने के लिए महावीर ने जब विहार किया तो गोशालक ने साथ चलने के लिए मना कर दिया। उसने कहा—'आपके साथ रहते हुए मुझे बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। आप समर्थ होते हुए भी मेरी सहायता नहीं करते। इसलिए आपके साथ अब मैं नहीं चलूंगा।' महावीर मौन रहते हुए आगे बढ़ गये। शालिशीर्ष ग्राम के उद्यान में कटपूतना नामक व्यन्तरी ने महावीर पर घोर उपसर्ग किया। महावीर ध्यान से विचलित नहीं हुए। अतः उनकी मनःस्थिति क्रमशः इतनी विकसित हुई कि उन्हें उसी समय 'लोकावधि' नाम का ज्ञान प्राप्त हो गया, जिससे वे लोक के समस्त द्रव्यों को साक्षात् जानने और देखने लगे। यहां से महावीर भद्दिया की ओर प्रस्थान कर गये। भद्दिया के चातुर्मास में ६ माह तक इधर-उधर घूमकर गोशालक फिर आकर महावीर के साथ हो गया। किन्तु अभी तक उसने अपनी नियतिवादी विचारधारा को नहीं छोड़ा था।

कहा जाता है कि एक बार महावीर सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम जा रहे थे। वहां वैश्यायन नामक एक तापस से गोशालक का मतभेद हो गया। अतः उस तापस ने तेजोलेश्या छोड़कर उसे भस्म करना चाहा। तब महावीर ने तुरन्त शीतलेश्या छोड़कर गोशालक को बचाया। तेजोलेश्या के प्रभाव से गोशालक बहुत प्रभावित हुआ और उसने महावीर से उसे प्राप्त करने की विधि पूछ ली। कुछ समय बाद, महावीर की साधना के दसवें वर्ष में वह उनसे अलग हो गया। छः माह तक तप, आतापना आदि करके उसने तेजोलेश्या प्राप्त की, फिर निमित्तशास्त्र पढ़ा। और इस प्रकार असाधारण शक्तियों का धारक होकर वह आजीविक सम्प्रदाय का स्वयं तीर्थंकर बन गया।

'इधर महावीर विविध प्रकार के ध्यान करते हुए श्रावस्ती पहुंचे, जहाँ उन्होंने अपना दसवां वर्षावास किया। श्रावस्ती से कौसाम्बी, वाराणसी, राजगिरि, मिथिला आदि नगरों में विहार करते हुए महावीर पुनः वैशाली आये जहां उन्होंने अपनी साधना का ग्यारहवां वर्ष पूरा किया।'

● ●

८. जगत् के प्रति समर्पण

यहां तक की कथा कहकर आचार्य कश्यप क्षण भर के लिए रुके। वे कथा का सूत्र पकड़ना ही चाहते थे कि एक जिज्ञासु कलाकार पूछ बैठा—'आचार्यप्रवर ! आपने महावीर की साधना का विस्तार से वर्णन किया। वे कितना घूमे-फिरे यह भी बतलाया। किन्तु गुरुदेव ! महावीर को तो आत्मसाधना करनी थी। एक स्थान पर ध्यानस्थ होकर भी तो वे ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। तब इतना भ्रमण किसलिए ?'

आचार्य प्रश्न सुनकर थोड़ा मुस्कुराये। श्रोताओं पर दृष्टि डालते हुए वे समाधान की मुद्रा मे हो गये—'भद्र सागरदत्त ! तुमने प्रथम प्रश्न पूछा। किन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण। सामान्य-सी बात है, महावीर क्षत्रिय थे। राजा दिग्विजय करते ही हैं। अतः उन्होंने भी सोचा—मैं पदयात्रा द्वारा ही दिग्विजय करूं। है न सही बात ?' सारा शिल्पीसंघ समाधान की सरलता का अनुभव करते ही एक-दूसरे की ओर देखते हुए हसने लगा। प्रश्नकर्ता को दुविधा में पड़ने का अधिक अवसर आचार्य ने नहीं दिया। वे गम्भीरता पर उतर आये—

'नही भद्र ! केवल ऐसा नहीं था। महावीर जैसी आत्माएँ कोई कार्य निरर्थक और सासारिक दृष्टि से नहीं करती हैं। महावीर के निरन्तर बारह वर्षों तक घूमते रहने और देश के इस छोर से उस छोर तक के लोगों के बीच विचरने का एक दूसरा कारण था। इसलिए मैं कहता हूँ कि उन्होंने अपना घर नही त्यागा था, केवल उसके विस्तार को वे समझ गये। यह भवन, यह नगर, यह भूखण्ड, प्रदेश, देश कुछ भी उनका नही है, ऐसा कहना तभी सम्भव है, जब सारी धरती ही उनकी हो। जैसे कोई मकान मालिक भवन, बरामदे, प्रवेश कक्ष, शयनगृह, रसोईगृह आदि में से किसी एक को पकड़कर नहीं बैठ जाता, बल्कि पूरे भवन को अपना मानता है। उसी प्रकार महावीर अपनी साधना में यह देखने निकले थे कि उनकी आत्मा का विस्तार कहां तक है इस

धरती के कितने भूभाग ने उनके अस्तित्व को स्वीकार किया है ?

'वास्तव में महावीर का भ्रमण जीवन की व्याख्या का सजीव रूप था। लोगों को आसक्ति और मोह समझ में आ जाय, इसलिए वे पूर्ण अनासक्त और निर्मोही होकर घूमे। उनके द्वारा विभिन्न कष्टों को सहना और मौन रहना इस बात की उद्घोषणा करता था कि जो कष्ट पा रहा है वह कुछ और है, तथा जो शान्तवशा आनन्दित हो रहा है वह कोई और है। जीव-अजीव के इस भेदविज्ञान की मूक व्याख्या करते ही महावीर विचरण करते रहे। उनके विचरण से ही यह पता चलता है कि सद् एवं असद्वृत्तियों का कहाँ टकराव होता है तथा असद् की पराजय और सद् की विजय के मूल में क्या कारण हैं ? अतः महावीर की विहार-यात्रा एक संसार है। स्वयं महावीर जीव के प्रतीक। उनको कष्टों में डालने वाले असद्वृत्तियों के प्रतिरूप तथा इन सब स्थितियों में भी परम ज्ञान की उपलब्धि कर लेना आत्मा की पूर्ण-मुक्ति की सम्भावना का द्योतक है।'

'गुरुदेव ! सुन्दर व्याख्या की आपने महावीर की साधनामय यात्रा की। जितना जीवित प्रश्न उतना ही सशक्त समाधान। इस वातावरण में मेरा मन भी तर्क पर उतर आया। क्षमा करें आचार्य ! महावीर अपने इस साधना काल में अनेक बार वैशाली आये होंगे। अपनी जन्मभूमि के समीप। क्या कभी उनकी अपने माता-पिता से भेंट हुई ? और यदि हुई तो क्या अनुभव किया होगा ममतामयी त्रिशला ने, ज्ञानी सिद्धार्थ ने और स्वयं महावीर ने ?'

'आयुष्मति कनकप्रभा ! तुम्हारे भावपूर्ण चेहरे से लग रहा है कि तुम उस दृश्य से गुजर रही हो जब भगवान बुद्ध अपनी जन्मभूमि में आये थे। उनके पिता, पत्नी यशोधरा एवं पुत्र राहुल ने उनकी अगवानी की थी। कितना मार्मिक था वह दृश्य, जब पुत्र राहुल माँ के कहने पर अपने पिता से दाय माँग रहा था। इसके उत्तर में बुद्ध ने उसे प्रव्रजित कर लिया था अपने संघ में। दुखहारी यशोधरा एक बार फिर छली गई थी।'

देवी कनकप्रभा ! भगवान महावीर ने ऐसा कुछ नहीं किया। एक बार जिन बन्धनों से अपने को मुक्त किया सो किया। महावीर की यात्रा निरन्तर आगे बढ़ने की थी, पीछे लौटने की नहीं। फिर भी आप भी, वैशाली आये होंगे

उन्हें कुछ ऐसा नहीं लगा कि उनका कोई घर भी है। माता-पिता अथवा स्वजन भी हैं। वे इन सम्बन्धों से ऊपर उठ चुके थे। जहां तक उनके माता-पिता की अनुभूति का प्रश्न है, हो सकता है यदि ममता का बन्धन अधिक प्रबल रहा होगा तो वे महावीर के दर्शन करने गये हों। किन्तु इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है। एक सम्भावना यह भी लगती है कि महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे और अभी तक महावीर के धर्म का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका था। अतः उनकी ओर इनका कोई झुकाव ही न रहा हो। धार्मिक मामले में उस युग में अधिक कट्टरता का पालन होता था। श्रीकन्ठ! तुम्हें तो मालूम है, सम्भवतः इन्हीं प्रश्नों के कारण एक परम्परा में महावीर के अभिनिष्क्रमण के पूर्व ही उनके माता-पिता की मृत्यु स्वीकार की गई है।'

'आचार्य! क्षमा करें व्यवधान के लिए। मुझे लगता है, हम तथ्यों की पकड़ मजबूत कर रहे हैं। इससे सत्य की व्याख्या अधूरी रह जावेगी। आपने महावीर की साधना की अभी विस्तार से बात की। अनेक उपसर्गों को उन्होंने सहा, रात्रि में वे सोये नहीं तथा भोजन भी बहुत ही कम उन्होंने किया, इत्यादि। किन्तु गुरुदेव! मात्र इतने के लिए तो महावीर का निष्क्रमण नहीं हुआ होगा? वे ध्यान के द्वारा क्या उपलब्ध कराना चाहते थे, क्या उन्हें मिला? मैं जानना चाहता हूं।'

'प्रिय चित्रांगद! तुम्हारी प्रज्ञा के अनुकूल है यह प्रश्न। महावीर निश्चय ही किसी अनुपम शक्ति, अलौकिक ज्ञान की खोज में निकले थे। हम प्रायः अपनी शक्ति और ज्ञान के पैमानों से नाप कर उनके व्यक्तित्व को छोटा कर देते हैं। कहते हैं—महावीर अहिंसक थे, त्यागी थे, क्षमावान थे आदि-आदि। ये गुण हमारे लिए महत्त्व के हैं। महावीर जैसी आत्मा तो इनसे ऊपर उठ चुकी थी। अतः उनकी बारह वर्षों की साधना क्रोध और क्षमा, हिंसा और अहिंसा, त्याग और भोग आदि जैसे द्वन्द्वों से मुक्त होने की थी। वे दोनों स्थितियों में द्रष्टा होने का प्रयत्न कर रहे थे। और वे इतने वीतरागी हो जाते थे कि शरीर की सामान्य क्रियाओं की उन्हें आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती थी। इसलिए वे निद्रा न लेते थे। भोजन न करते थे। फिर भी उनका

शरीर कान्तिमय एवं स्वस्थ बना रहा। यह भौतिक आवश्यकताओं को कम करने का सबसे बड़ा उदाहरण था। इस बात का प्रतीक भी कि व्यक्ति यदि आत्मा के प्रति निरन्तर जागृत होता जाये तो कर्मबन्धन की अनेक क्रियाएँ स्वमेव तिरोहित होती जाती हैं।

'महावीर की साधना और ध्यान इस बात पर भी केन्द्रित था कि वे सत्य की खबर जीवन के जितने रूप और स्तर हैं उन सब तक पहुंचा देना चाहते थे। जो उन्हें उपलब्ध हो रहा था उसे वे कण-कण में वितरण करते आ रहे थे। यही कारण है कि कथाओं, प्रसंगों में देव, मानव, व्यन्तर पशु, पक्षी, सज्जन, दुर्जन सभी प्रकार के जीव महावीर के सानिध्य से कृतार्थ हुए हैं। अतः आत्मिक जागरण की ओर प्राणी जगत् को आकर्षित करना महावीर की साधना का प्रतिपाद्य था। उन्होंने विभिन्न प्रकार ध्यानों द्वारा स्वयं पूर्ण जागरण की उपलब्धि की है। उनके केवलज्ञान प्राप्ति के प्रसंग को कहने के पूर्व उनके अन्तिम वर्ष की साधना से आप सबके साथ और गुजरना चाहूंगा। एकाग्र हो सुनें।'

'साधना के १२वें वर्ष में महावीर मेंढिय ग्राम से वत्सदेश की राजधानी कौशाम्बी पधारे। सारी नगरी उनकी अगवानी के लिए उमड़ पड़ी। जो भीड़ में पीछे भी रह गए तो उनका मन सबसे आगे बन्दना करने दौड़ रहा था। महावीर के उस नगर में प्रवेश करते ही उसकी शोभा बढ़ गई। प्रत्येक नागरिक महावीर के सानिध्य के लिए आतुर था। क्योंकि उस समय तक महावीर की समतामयी दृष्टि एवं निरहंकारी भाव पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। उनके चरणों से अपने आंगन को पवित्र करने की हरेक के मन में आकांक्षा थी। महावीर नासाग्र दृष्टि किए चलते जा रहे हैं। वे आगे-आगे और जनसमुदाय उनका गुणगान करते हुए पीछे-पीछे। जिस मार्ग से वे निकल जांय वहीं के प्रासादों के वातायन खुल पड़ते। देखने लगते हजारों नेत्र उनकी कान्तिमयी मनोरम छवी को।'

किन्तु यह क्या? महावीर ने समस्त कौशाम्बी का भ्रमण कर लिया और किसी एक के घर भी आहार ग्रहण नहीं किया? जैसे ही लोगों का ध्यान इस तरफ गया, बात कानों-कान सारे नगर में फैल गयी। सामन्तकों का हृदय

गया। श्रावकों, सार्थवाहों, श्रेष्ठिओं, सामन्तों के झुण्ड के झुण्ड उनके चरणों में लोटने लगे। किन्तु महावीर ने किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। उनकी वीतरागता और ध्यान की बात तो सुनी थी लोगों ने, लेकिन इस प्रकार भ्रमण करते हुए उनके अनुपस्थित होने का दृश्य उस दिन ही लोगों ने देखा। कितना अद्भुत ? कितना चिन्ताजनक ?

कौशाम्बी के राजा से न रहा गया। वह दौड़ा आया। उसने महावीर की अगवानी की। राजभवन में भोजन के लिए उन्हें आमन्त्रित किया। किन्तु महावीर हैं, जो सौम्य मुद्रा में आगे चले जा रहे हैं। इतने मौन कि लोग उनकी आकांक्षा की कल्पना भी न कर सके और हताश उन्हें जाता हुआ देखते रहे। महावीर नगर से निकलकर समीप के उद्यान में जाकर ध्यान मग्न हो गये।

इधर नगर में तरह-तरह की बातें। जो श्रमण परम्परा के अनुयायी थे, महावीर के श्रद्धालु, उन्हें अपनी धार्मिकता पर सन्देह होने लगा। दुख इस बात पर कि उनके घर से अंतिम तीर्थङ्कर आज भूखे लौट गये। तथा जो ब्राह्मण परम्परा के अनुयायी या अन्य तीर्थक थे, उन्हें यह कहने का अवसर मिल गया कि देखा—जैन साधु कितने मानी होते हैं ? महावीर ने हमारे राजा तक का निमन्त्रण नहीं माना। कुछ लोग यह खोजने में लग गये कि नगर में अवश्य कोई ऐसा अपुण्यशाली व्यक्ति है, जिसके प्रभाव से आज महावीर की पारणा में विघ्न आ गया।

नगर सेठ वृषभानु की सेठानी तो और भी चिन्तित। उसे लगा कि उसके भवन के पिछवाड़े तलघर में जिस कुमारी चन्दना को उसने अपनी सौत समझकर बांधकर डाल रखा है, उसी के पाप के कारण महावीर उसके घर में तो क्या, उसकी रथ्या तक में नहीं आये। उनके दर्शन से भी वह वंचित रह गयी। किन्तु उसने तुरन्त निश्चय किया कि अब मैं ध्यान रखूंगी कि महावीर इस ओर न आ जाय अन्यथा उन्हें फिर भूखा लौटना पड़ेगा। और उसने अपना प्रबन्ध पूरा कर लिया।

राजकुमारी चन्दना क्या सोच रही थी, उसे शब्दों में कहना कठिन है। उसे याद आ रहा था कि वह राजा चेटक की छोटी पुत्री होने पर भी आज

के कारण शत्रुओं के हाथ पड़ गयी। वहां से किसी प्रकार छूटी तो सेठ वृषभानु उसे पुत्री बनाकर घर पर ले आये। उसे लगा दूसरा पिता ही उसने पा लिया है। किन्तु उसका अप्रतिम रूप उसका बैरी बन बैठा। सेठानी ने सौतिया डाह के कारण अवसर देखकर उसे बेड़ी पहिना दीं और इस तलघर में डाल दिया। अब सूप में रखे इन कोंदो के भोजन से ही उसका जीवन है। बाहर की दुनिया कैसी है, उसे कोई खबर नहीं। पता नहीं वह कब मुक्त होगी?

दूसरे दिन कौशाम्बी में फिर वही जमघट और महावीर के निराहार लौट आने पर वही विषादपूर्ण नीरवता। धीरे-धीरे यह एक क्रम बन गया। महावीर जब तक उस प्रदेश में रहे, खाली हाथ लौटते रहे। इधर-उधर विहार करने भी चले गए तो किसी नगर में उनकी पारणा न हो सकी। लोगों ने उनको भोजन कराने के अनेकों प्रयत्न कर लिए। श्रमण-परम्परा में साधु द्वारा आहार के लिए जो भी अभिग्रह लिए जाते थे उन्हें पूरा करने का प्रयत्न कर लिया गया। किन्तु सब विफल। और इस प्रकार महावीर को निराहार भ्रमण करते हुए लगभग पांच माह व्यतीत हो गए। उनके मौन, उनके ध्यान एवं मुख पर वही सौम्यता देखकर लोग आश्चर्यचकित थे।

छठा माह पूरे होने में मात्र पांच दिन रह गए। महावीर दैनिक क्रम में कौशाम्बी नगरी के मार्गों का भ्रमण कर रहे थे। जनसमुदाय उनकी जय-जयकार करता हुआ उनका अनुगमन कर रहा था। किसी ने सेठ वृषभानु की गली का मार्ग प्रशस्त किया। महावीर उधर चल पड़े।

तलघर में राजकुमारी चन्दना को कोलाहल सुनायी पड़ा। स्पष्ट होने पर ज्ञात हुआ महावीर इधर आ रहे हैं। वह आनन्द से उछलना चाहती थी उनकी वन्दना करने के लिए। किन्तु सोचने लगी—'मैं उन्हें आहार में क्या दूंगी? एक तो मेरी ऐसी दशा और दूसरे ये सूखे कोंदों के दाने? ऐसा मेरा पुण्य कहां?' तभी उसे लगा कि महावीर तो इस भवन की ओर ही आ रहे हैं। वह उनके प्रति श्रद्धा से भर गयी और उन्हें देखने उत्साह से जैसे ही उठी उसकी बेड़ियों की कड़ियां टूट गयीं। वह सूप में पड़े कोंदों को लेकर ही दरवाजे की ओर भागी। देखा महावीर उसी की ओर शान्तभाव से चले आ रहे हैं।

चन्दना का रोम-रोम नाच उठा। वह आगे बढ़ी। भक्तिपूर्वक उसने वर्धमान की अगवानी की। उन्होंने उसकी विनय को स्वीकार कर लिया और दोनों हाथ भोजन लेने की मुद्रा में कर दिये।

यह एक अपूर्व दृश्य था। हजारों नर-नारी अपने नयनों को सार्थक कर रहे। देख रहे थे कि चन्दना महावीर के हाथों में कोंदे डाल रही है, वे क्षीर बनते जा रहे हैं। महावीर दोनों स्थितियों में प्रसन्न हैं। चन्दना आत्मशक्ति से भरती जा रही है। उसे लग रहा है कि जितने दाने कोंदे वह दे पा रही है उससे असंख्य गुणा ज्ञान उसमें समाहित होता जा रहा है। पता ही नहीं चल रहा कि वह महावीर को आहार दे रही है या उनसे ज्ञान का आहार ले रही है। महावीर आहार लेकर वहां से कब चल दिये किसी को पता नहीं चला। क्योंकि सभी चन्दना के भाग्य की सराहना में खो गये थे। चारों ओर उसकी कीर्ति ही उपस्थित थी। बहुत दिनों बाद एक भारतीय नारी का फिर सम्मान हुआ था। उसके शील का। उसकी प्रभु को समर्पित श्रद्धा का। वृषभानु सेठ की पत्नी चन्दना के चरणों पर नत थी और चन्दना उसके द्वारा दी गयीं बेड़ियों की कृतज्ञ थी, जिनके आशीर्वाद से आज वह आत्मबोध के द्वार पर खड़ी हो सकी है। सेठ वृषभानु इस सब अप्रत्यासित को देखता हुआ महावीर की चरण-रज को बटोरने में लगा था। आज वह कृतार्थ हो गया।'

लोग जब यथार्थ पर लौटे, परस्पर विचार-विमर्श हुआ, ज्ञानियों ने अपनी बुद्धि को पैनी किया तब यह जान पाया कि महावीर को इतने समय तक आहार इसलिए नहीं मिला, क्योंकि उनका अभिग्रह था—'मुण्डितसिर, पांवों में बेड़ियों सहित, तीन दिन की भूखी, दासत्व को प्राप्त हुई कोई राजकुमारी यदि कोंदों के दाने सूप में रखकर द्वार पर खड़ी हुई मुझे आहार के लिए अवगाहन करेगी तो पारणा करूंगा, अन्यथा नहीं।' किसके वश में था यह अभिग्रह पूरा करना? धन्य हो राजकुमारी चन्दनबाला को, जिसने हमें, हमारी नगरी को यह सौभाग्य प्रदान किया है।'

'और आचार्यप्रवर! हमारा सौभाग्य है कि आप के मुख से सुनकर हम भगवान महावीर की कथा को अपने सामने घटता हुआ देख रहे हैं। उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा के साथ एक छोटा-सा प्रश्न है। मैंने सुना है कि १२ वर्ष की

साधना में महावीर ने केवल ३४९ दिन ही आहार लिया। इतने दिनों तक बिना भोजन के वे कैसे रह लेते थे? और इतने कठिन से कठिन अभिग्रह करने की उन्हें क्या आवश्यकता थी? जिज्ञासावश ही पूछ रहा हूं-गुरुदेव!'

'वत्स श्रीकण्ठ! तुम्हारी विनम्रता और उत्कंठा से मैं परिचित हूं। और तुम मेरी समाधान की शैली से। अतः उतना ही ग्रहण करना जो तुम्हें रुचिकर हो। तुम्हारी कथा को सार्थक। भोजन से हमारा गहरा सम्बन्ध है। इसलिए हम सोचते हैं कि महावीर इतने दिन बिना भोजन के कैसे रह गये? वस्तुतः महावीर ने भोजन छोड़ने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। उनसे अनायास भोजन छूट गया। उनकी साधना की यह उपलब्धि थी कि उनके शरीर को अब स्थूल भोजन की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। शरीर को जिन कारणों से भूख लगती है, वे कार्य प्रायः विसर्जित हो चुके थे। यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि महावीर की उपस्थिति शरीर में बहुत कम ही रहती थी। मुझे तो लगता है, जितने दिन उन्होंने आहार लिया उतने दिन ही वे शरीर के हो सके। अन्यथा हमेशा वे आत्मा के समीप रहे। आत्मा के साथ इस निकटता के कारण ही सम्भवतः वे अपने उन दिनों को 'उपवास' का दिन कहते थे। दूसरी बात यह भी प्रतीत होती है कि भोजन करना एक बड़े आरम्भ के साथ जुड़ जाना है। न जाने कितने जीवों के कायिक और मानसिक घात-प्रतिघातों का इसमें भागीदार बनना पड़ता है। महावीर की अहिंसा बहुत गहरे तलों तक उतरी थी। अतः वे ऐसे सूक्ष्म भोजन से ही काम चला लेते थे, जिसमें कम से कम आरम्भ हो।

अभिग्रह धारण करने के पीछे भी यही भावना निहित दिखायी देती है। इतनी कठिन प्रतिज्ञा लेने से शायद ही भोजन का संयोग बैठे। ऐसे जितने दिन भी गुजरे वे महावीर के लिए उपयोगी होते थे। अभिग्रह लेने के मूल में दूसरा प्रमुख कारण यह था कि अपनी प्रतिज्ञाओं के द्वारा महावीर यह जान लेना चाहते थे कि उनकी जगत् के लिए कितनी आवश्यकता है? इस जन्म में वे स्वयं के लिए कुछ पाने व करने नहीं आये थे। जो कुछ उन्हें उपलब्ध था, उसे वितरित करने की उनकी भावना थी। अतः वे यह देख लेना चाहते थे कि उनके जीवन को सुरक्षित रखने में जगत् का वातावरण कितना

सजग है ?

'महावीर कभी-कभी अभिग्रह ले लेते थे कि जिस घर के सामने दो बैल खड़े होंगे, द्वार पर चम्पक पुष्पों का वृक्ष होगा तथा कोई सुहागिन पूर्ण कलश लिए खड़ी होगी वही भोजन करूंगा। अब इन स्थितियों से उनकी साधना व ध्यान का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु उनका यह अभिग्रह यदि पूरा होता है तो उसका अर्थ है कि वनस्पति, पशु-जगत् एवं मानव का समन्वय प्रयत्न महावीर को जीवन देने के लिए उत्सुक है। इसकी दूसरी अन्विति यह है कि महावीर का हृदय जीवन के निम्न से निम्न तल तक विकसित हो चुका था, जहां उसके स्पन्दन के अनुरूप व्यवस्था करने में होड़ लग जाती थी। जीवन के प्रति इतनी अनासक्ति, जीवैषणा के प्रति इतना अभय और जगत् के जड़-चेतन पदार्थों की व्यवस्था के प्रति इतनी निश्चिन्तता महावीर जैसी विकसित आत्माएं ही कर सकती हैं। सम्पूर्ण जगत् महावीर का घर हो गया था एवं समस्त प्राणी उनके स्वजन। इस बात की घोषणा करते हैं—उनके भोजन के निमित्त लिए गये कठिन से कठिन अभिग्रह।'

एक बात और आपको बता दूं। जिस प्रकार महावीर अपने भोजनादि आवश्यकताओं के लिए जगत् पर निर्भर थे उसी प्रकार वे अपने जीवन की सुरक्षा के प्रति भी निश्चिंत थे। आपको ज्ञात होगा कि उनके इस साधना काल में जब भी उन पर कोई उपसर्ग हुआ, उन्हें सताया गया तो इन्द्र ने आकर उनसे आज्ञा चाही कि वह उनकी रक्षा में सहायक हो किन्तु महावीर ने उसकी सहायता को स्वीकार नहीं किया। महावीर की इस निडरता की परीक्षा के लिए संगमक नामक एक देव लगातार छह माह तक उन्हें अनेकों कष्ट देकर उनको विचलित करने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु अन्त में हार कर भाग गया।

इस प्रकार की जितनी भी कथाएं महावीर के जीवन के साथ सम्बद्ध हैं, उनकी अच्छी निष्पत्तियां हैं। इससे ज्ञात होता है कि महावीर का चित्त इतना शक्तिशाली था कि उसे साधना में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं थी। महावीर अपनी इस अन्तर्यात्रा में चूंकि निःसंग होकर अकेले चल सके, इसलिए समस्त जगत् उनका हो गया। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि सच्चा साधु वही

है, जो असुरक्षा और अव्यवस्था में अकेला खड़ा हो सके। जगत् को उसके अस्तित्व की आवश्यकता होगी तो उसकी सब व्यवस्थाएं हो जायेगी। इन देवताओं से महावीर की बातचीत हुई हो या नहीं, यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। काम की बात इससे यह ध्वनित होती है कि महावीर की साधना एवं लक्ष्य इतना कल्याणकारी था कि उसकी सुरक्षा के लिए संसार की सभी शुभ शक्तियां उनका साथ देने को तैयार थीं। पूर्णतया अकेले खड़े हो जाना सत्य की खोज मे महावीर जैसे व्यक्तित्व द्वारा ही सम्भव है। आकांक्षाहीन संसार के विसर्जन की यह अद्भुत घटना थी।

••

९. परम ज्योति का उदय

'महावीर अपनी साधना के बारह वर्ष समाप्त कर अभी भी ग्राम-ग्राम, नगर-नगर विचरण कर रहे थे। जहां से वे गुजर जाते वहीं लोगों को प्रेम, शान्ति और सुख का अनुभव होने लगता। वहां की भूमि निरापद और निराकुल हो जाती। महावीर के मुखमण्डल पर अब ज्ञान की विचक्षण आभा विकीर्ण होने लगी थी। वीतरागता गहन होती जा रही थी और कर्म का कलुष अन्जुलि के जल की भांति चुकता जा रहा था। अतः आत्मा के आवरण शिथिल होते जा रहे थे। निर्मलता का उन्मेष हो रहा था। आत्मा की प्राची से ज्ञान की परम ज्योति का उदय सन्निकट था।

मध्यमा नगरी के उद्यान से महावीर आत्म-शुद्धि के अन्तिम चरण में विहार करते हुए जृम्भिका गांव के समीप पहुंचे। उनके दर्शन को सारा गांव उमड़ पड़ा, किन्तु वे आगे ही बढ़ते गये। वे गांव के समीप ऋजुबालुका नदी के तट पर आकर रुके। वहां पर स्थित एक देवालय के समीप सालवृक्ष के नीचे महावीर गोदोहन आसन में परमशान्त मुद्रा लिए ध्यान में लीन हो गये। वैशाख शुक्ला दशमी की शुभ तिथि (५५७ ई. पू.) थी। अपराह्न का अन्तिम प्रहर था। महावीर की तपश्चर्या को बारह वर्ष पांच मास एवं पन्द्रह दिन हो चुके थे। ऐसी शुभ घड़ी में उनकी आत्मा विशुद्ध वीतरागता की ओर अग्रसर होने लगी। उस पर से कर्म के आवरण उतरने लगे और ज्ञान-ज्योति की प्रखर रश्मियां इधर-उधर आभा विकीर्ण करने लगीं। धीरे-धीरे मोहनीय आदि चार घातियां कर्मों का क्षय कर महावीर पूर्ण अर्हन्त बन गये। उस समय एक ऐसे आत्मसूर्य का उदय हुआ, जिसका न कभी अस्त होना था और न क्षय। महावीर इस परम ज्ञान ज्योति की उपलब्धि से आनन्दित थे। उनके चित्त की प्रसन्नता और निर्मलता ऋजुकूला के तट के आस-पास व्याप्त हो गयी। महावीर केवलज्ञानी हो गये, इस बात की सूचना क्षण भर में सर्वत्र प्रसारित हो गयी।

'केवलज्ञान' शब्द आपके लिए परिचित हो सकता है, किन्तु इसकी जो स्थिति है, उस तक पहुंचने के लिए साधना की आवश्यकता है। विशुद्ध चित्तदशा की। केवलज्ञानी हो जाने का अर्थ है—मात्र ज्ञान के धनी होना। अर्थात् जहां केवल जानना रह जाता है, करना नहीं। उस स्थिति में की जाने वाली क्रियाएं आकांक्षारहित होती हैं। अतः उनसे कर्मबन्धन की परम्परा अवरुद्ध हो जाती है। कर्मबन्धन और उनसे मुक्ति आदि के सम्बन्ध में महावीर की क्या दृष्टि थी, इस पर बाद में चर्चा करूंगा। पहले मैं चाहता हूं कि आपको महावीर के तीर्थङ्कर जीवन के सम्बन्ध में कुछ बतलाऊं।'

'आचार्यप्रवर! हम महावीर के जीवन की आगे की कथा बड़े उत्साह से सुनेंगे। अभी आपने उनके केवलज्ञान प्राप्ति की बात कही है। अपूर्व रहा होगा वह क्षण। गुरुदेव! आपने कहा कि महावीर जब ध्यान में लीन हुए तो वे गोदोहन आसन में बैठे थे। ज्ञान की उपलब्धि के लिए इस प्रकार के विशेष आसन की क्या आवश्यकता थी? अधिकतर महावीर खड़े-खड़े ही ध्यान किया करते थे, ऐसा हमने सुना है?'

'भद्र चित्रांगद! तुमने ठीक सुना है। महावीर इसलिए प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान किया करते थे क्योंकि इससे उनका चित्त अधिक जागृत रह सकता था। प्रमादी होने की कम सम्भावना थी। निद्रा आने की आशंका नहीं रहती थी। ध्यान के लिए इस प्रकार की एकाग्रता और सजगता आवश्यक होती है। यद्यपि तुमने गुप्तकाल में बनी तीर्थङ्करों की मूर्तियां देखी होंगी, जो प्रायः पद्मासन मुद्रा में हैं। यह भी ध्यान की एक मुद्रा है। किन्तु महावीर का प्रत्येक कार्य निराला था। अतः वे कायोत्सर्ग मुद्रा में भी ध्यान करने के अभ्यासी हो गये थे।

तुमने उनके केवलज्ञान प्राप्त करने वाली मुद्रा गोदोहन आसन की सार्थकता जाननी चाही है। इस सम्बन्ध में स्वयं महावीर ने क्या सोचा था, उनका चित्त कैसा था इसे यथार्थरूप में तो मैं नहीं कह सकता। किन्तु उनकी सम्पूर्ण साधना और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर ध्वनित अर्थ को खोजा अवश्य जा सकता है। क्योंकि महावीर की छोटी से छोटी क्रिया भी कोई न कोई सन्देश लिये होती है।

महावीर निरन्तर पर्वत पर, जंगल में, वर्षा में, धूप में, शीत में रहे हैं। न कोई घर, न कोई द्वार। न बैठने के लिए कोई आसन और न सोने को शैया। हो सकता है जंगल में या निर्जन स्थान में वे हमेशा उकडूं (गोदोहन आसन) ही बैठते रहे हों और इस आसन के अभ्यास ने उन्हें ध्यान में बड़ी सहजता प्रदान की हो। दूसरी बात यह कि महावीर की यह निरन्तर चेष्टा रहती थी कि उनके माध्यम से किसी जीव की हिंसा न हो। इसीलिए वे एक ही करवट लेटते थे। और इसी धारणा के कारण पृथ्वी पर कम से कम दबाव डालने के लिए उन्होंने गोदोहन आसन को ध्यान के लिए चुना होगा। अद्भुत है उस आदमी की संवेदना। धरती से उसका मात्र दो पंजों का सम्बन्ध रह गया, इतना ऊपर उठ गया था वह। तीसरा कारण इस आसन में ध्यान करने का यह था कि इसमें तन्द्रा व निद्रा आने का प्रश्न ही नहीं है। उकडूं बैठकर कौन सोयेगा? अतः महावीर ध्यान में जो पूर्ण सजगता बनाये रखने की बात कहते हैं उसका फल उन्होंने इस आसन में ध्यान करके प्रगट कर दिया। पूर्णजागृति के कारण ही वे आत्मनिष्ठ हो सके और परम ज्ञान के धारक।'

मैंने आपसे पहले कहा था कि महावीर एक परम्परा में जन्म लेकर भी स्वतन्त्र पथ के निर्माता थे। वे किसी का अनुकरण नही करना चाहते थे। भले वह शरीर की आकृति का ही अनुकरण क्यों न हो। वे सम्भवतः इस बात को समझ गये थे कि यदि शरीर की परम्परागत गतिविधियों को बदल दिया जाय तो चित्त की परम्परागत अवस्थाओं में भी अन्तर आ जाता है। शायद ही कोई कभी उकडूं आसन में बैठकर ध्यानस्थ हुआ हो। महावीर ने इस आसन में बैठकर अपने चित्त को पुराने सभी सम्बन्धों से इतना मुक्त कर लिया कि वे मात्र ज्ञानस्वरूप रह गये। ध्यान की इस अवस्था द्वारा उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मुक्त होने के लिए व्यक्ति को जितनी मौलिक होने की आवश्यकता है, उतनी ही परम साहसी होने की भी। यह घटना इस बात का संकेत है कि व्यक्ति यदि अप्रमादी और एकाग्रचित्तक है तो वह किसी भी आसन से, जो उसके अभ्यास के अनुकूल हो, क्षणभर में मुक्त हो सकता है। उसे परम्परामुखी होने की आवश्यकता नहीं है। भद्र श्रीकण्ठ! यह सब मैं

महावीर के मौलिक व्यक्तित्व और स्वतन्त्र चिन्तन को अभिव्यक्त करने के लिए ही कह रहा हूँ, इससे अन्यथा न लेना।'

'गुरुदेव ! आपकी कृपा से इतना मैं भी समझने लगा हूँ कि किसी भी परम्परा की सार्थकता उस नाव की भांति ही है जो इस पार से उस पार तक पहुंचा देती है। बाकी पद यात्रा तो स्वयं ही करनी पड़ेगी। ठीक महावीर की तरह निर्भय होकर।'

'भद्र ! तुमने पढ़ा ही नहीं, गुना भी है। अब उसको अभिव्यक्त करना ही शेष है, सो अपनी कला द्वारा करोगे ही। देख रहे हो कलाकारों ! वह पश्चिम में अस्ताचल को जाता हुआ अंशुमाली कितना निस्तेज, लुटा-लुटा-सा। ऐसे ही विलीन हो गया था महावीर के कर्मपरमाणुओं का पुंज। बिखर गयी थी मोह और राग-द्वेष की शृंखला। और अब जो उन्हें प्राप्त हुआ था उसे वे बिखेर देना चाहते थे समस्त जड़-चेतन के समक्ष। महावीर की उदारता है कि उन्होंने १२ वर्षों के कष्टदायी समय में जो कुछ भी ग्रहण किया उसे वे *तीस वर्ष तक हंस-हंसकर लुटाते रहे। इस तीस वर्ष के तीर्थङ्कर-जीवन की* कथा कल कहूँगा। उसमें आप गुजरेंगे उनकी प्रथम देशना में, प्रमुख शिष्यों के बीच, चतुर्विध संघ के आंगन में तथा उन हजारों दीक्षित व्यक्तियों के साथ, जिन्होंने अन्य मत-मतान्तरों के चक्रव्यूह को तोड़कर जिनशासन में आकर मुक्त सांसें ली हैं।—आयुष्मति कनकप्रभा ! अब मुझे मुक्ति दें।'

'आचार्यप्रवर ! पुरुष की नारी से मुक्ति मांगने की आदत अभी गयी नहीं। मेरा बन्धन ही कितने क्षणों का है ? गुरुदेव ! कथा को विराम देने की आज्ञा शिरोधार्य है।'

क्षणभर में शिल्पी-समुदाय बिखर गया, कनकप्रभा की प्रगल्भता पर विचार-विमर्श करते हुए। और वह स्वयं आंक रही थी अपने कथन की प्रतिक्रिया को आचार्य के गम्भीर चेहरे पर। आचार्य चिंतन में थे कि उनके अन्तेवासी महावीर के व्यक्तित्व की मौलिकता और चिंतन-स्वातन्त्र्य को कितना ग्रहण कर रहे हैं ? कितनी अभिव्यक्ति वे प्रस्तुत कर सकेंगे गुफा की इन सूनी दीवारों पर ? जन-मानस की सपाट चित्तभूमियों पर ? यह सब सोचते हुए आचार्य विश्राम में चले गये।

● ●

१०. समवसरण

उदयगिरि की गुफाओं के आस-पास भगवान महावीर के केवलज्ञान-प्राप्ति की कथा कई दिनों तक कही जाती रही। आचार्य कश्यप महावीर के व्यक्तित्व का जितना सूक्ष्म एवं विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते थे, उनके जिज्ञासु श्रोता विभिन्न प्रश्न उपस्थित कर उसे और सूक्ष्म एवं हृदयग्राह्य बना देते थे। महावीर के तपस्वी-जीवन सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों का समाधान करते हुए आचार्य ने पुनः कथासूत्र सम्भाल लिया।

प्रातःकाल होने को था। प्राची की कोख से अंशुमाली जन्म ले रहा था। धीरे-धीरे अन्धकार विसर्जित हुआ। क्षण भर बाद बेतवा के किनारे की वे पहाड़ियां सूर्य की आभा से भासमान हो उठीं। लगता था—महावीर का केवलज्ञान साकार हो रहा है। गुफा के उसी विस्तृत खुले मैदान में शिल्पी-संघ एकत्र था। आचार्य अपने आसन पर विराजमान थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों भगवान महावीर की प्रथम देशना की न केवल कथा सुनी जा रही है, अपितु उस ऐतिहासिक दृश्य को मंचस्थ भी किया जा रहा है। नेपथ्य से नाट्याचार्य की तरह आचार्य कश्यप का स्वर गूंज उठा—

'महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, यह समाचार चहुंदिश फैलता हुआ जब इन्द्र को ज्ञात हुआ तो उसके हर्ष की सीमा न रही। उसने अपने कोषाध्यक्ष कुबेर को बुलाया। ऋजुकूला के तट पर विशाल सभामण्डप बनाने का आदेश दिया। इन्द्र की अभिलाषा थी कि तीर्थङ्कर महावीर की वाणी का प्रसार अधिक से अधिक हो सके। संसार के सभी प्राणी उनकी देशना से आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हो सकें। इसलिए इन्द्र ने कुबेर को एक ऐसी योजना सभामण्डप की रचना के सम्बन्ध में प्रस्तावित की, जिसमें सभी प्रकार के प्राणियों के बैठने की व्यवस्था हो। कुबेर ने इन्द्र की कल्पना के अनुरूप ऋजुकूला के तट पर आकर एक विशाल, मनोरम सभामण्डप की रचना कर

दी। उसकी समृद्धि और शोभा के आगे स्वयं उसे अपना वैभव अकिंचन लग रहा था। किन्तु वह स्वयं सार्थक हो गया था, इसने प्राणियों को भगवान महावीर की वाणी सुनने का अवसर प्रदान कर।

इन्द्र ने जिस सभामण्डप बनाने की आज्ञा दी थी उसे जैनआगम ग्रन्थों में 'समवसरण' कहा गया है। आत्मकल्याण का सबको अवसर प्रदान करने वाला स्थान। समस्त प्राणियों पर तीर्थङ्कर की समान दृष्टि एवं वाणी का प्रसार। यह इसकी सार्थकता रही होगी। आप सब रंगधर्मी कलाकार हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म आकृतियों को साकार करने वाले। अतः आपसे 'समवसरण' की रचना के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से कहूंगा।

महावीर के प्रथम धर्मोपदेश के समय जो 'समवसरण' बनाया गया वह लगभग बारह योजन आयाम में सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार में फैला हुआ था। उनकी पीठ तक पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी थीं। उसके आगे अनेक वीथिकाएँ। बाहरी परकोटे में चार गोपुर द्वार थे, जिनके आस-पास मंगल द्रव्य रखे थे। गोपुरों के बाह्यभाग में मकरतोरण और आभ्यन्तर भाग में रत्नतोरण निर्मित थे। उनके पार्श्वभागों में नाट्यशालाएँ, रंगभूमियां, चैत्य-प्रासाद आदि बनाये गए थे। वीथियों के बीचोबीच मानस्तम्भ स्थापित था, जिसकी ऊँचाई तीर्थङ्कर की शरीराकृति से १२ गुनी थी। ये मानस्तम्भ अनुशासन और विनय के प्रतीक थे। इनके दर्शनमात्र से व्यक्ति को अपनी लघुता का बोध होने लगता था। तथा वह जो परम और पूर्ण है उसकी ओर आकृष्ट हो जाता था।

उस सभामण्डप के हृदय भाग में एक सुन्दर वेदिका बनी हुई थी, जिसे गंधकुटी कहते हैं। उस पर एक रत्नजटित सिंहासन प्रतिष्ठित था, जिस पर एक मनोज्ञ कमल बना हुआ था। इसी पर बैठकर तीर्थङ्कर महावीर उपदेश देने वाले थे। गंधकुटी के चारों ओर बारह विशाल कक्ष थे, जिन्हें श्रीमण्डप कहा जाता था। इनमें धर्मोपदेश के समय देव-देवियों, साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं, पशु-पक्षियों आदि के बैठने और सुनने की अलग-अलग समुचित व्यवस्था थी। समवसरण की यह संरचना आगे चलकर स्थापत्य के नमूनों के रूप में स्वीकार की गई है। किन्तु इसका दूसरा प्रयोजन यह भी जान पड़ता

है कि इस सभामण्डप में एक ऐसे वातावरण को बाँध लिया जाता था जहाँ तीर्थंकर की वाणी मुखरित हो सके तथा जिसमें पहुंचकर प्रत्येक प्राणी आत्मा की उस निर्मलता के सन्निकट हो सके, जो तीर्थंकर की वाणी को समझने में सहायक है। अतः समवसरण यथार्थ में एक चित्तभूमि का उत्पादक था, जहाँ ज्ञान के कमल सुरभित हो सके हैं।

देवों के दुन्दुभिनाद ने समवसरण के शुभ संवाद को सब ओर फैला दिया। देखते-देखते ऋजुकूला का तट तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि का परम तीर्थ बन गया। उनका उपदेश सुनने के लिए समवसरण के उस समुद्र में जनसमूह की सरिताएँ आ-आकर मिलने लगीं। इन्द्र भी अपने विशाल परिवार के साथ वहाँ आ पहुंचा। उसने महावीर के कैवल्य का अपूर्व हर्ष मनाया तथा उनकी वन्दना कर समवसरण की अन्य व्यवस्थाओं में व्यस्त हो गया। तत्कालीन अन्य प्रमुख राजा, सामन्त एवं महामात्य भी अपने परिवारों के साथ वहाँ एकत्र हो गए। ऐसे अनेक पशु-पक्षी भी वहाँ आ मिले जिनकी जीवन-यात्रा का मोड़ अब आध्यात्म की ओर हो गया था। उन सभी के परिणाम निर्मल थे। उनके हृदय से वैर, द्वेष, घृणा, क्रोध, हिंसा आदि असद्वृत्तियाँ तिरोहित हो चुकी थीं। अन्तर्विरोध शांत हो गए थे। चीता-हिरण, गाय-सिंह, बिडाल-मूषक आदि बड़े निर्मल भाव से पास-पास बैठे महावीर की दिव्य वाणी की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। उस अमृत की, जिससे अनेक सोये हुए प्राण जागने थे। तीर्थंकर महावीर की सौम्य मुख-मुद्रा सबको दिखलाई दे रही थी। उस पर इतनी ताजगी और निर्मलता थी कि लगता ही नहीं था कि इन्होंने कठोर तपस्या की है। उनके ज्ञान की उज्ज्वलता से वह सम्पूर्ण समवसरण प्रकाशमान था।

●●

११. ज्ञान की गंगा

समवसरण में उपस्थित जनसमुदाय, देव-देवियों का ध्यान जब महावीर की अलौकिक छवि को निहारते रहने से क्षण भर के लिए टूटा तो उन्होंने पाया कि महावीर अभी तक बोले ही नहीं है। पूर्ववर्ती अन्य तीर्थंकरों की भांति वे भी अवश्य उपदेश देंगे। उनकी दिव्य ध्वनि से अवश्य हम सब लाभान्वित होंगे। वे अपने तपस्याकाल में मौन रहे तो अब अवश्य मुखरित होंगे।

किन्तु यह क्या? सारा दिन बीत गया, सारी रात ढल गयी और महावीर कुछ बोले ही नहीं? लोगों ने अपने मन को समझाया कि सुना है महावीर प्रारम्भ से ही क्रांतिकारी रहे हैं। हो सकता है कुछ विलम्ब से बोलें। अतः वे प्रतीक्षा करने लगे। इस बीच सभामण्डप में लोग आते-जाते रहे। विचार-विमर्श करते रहे, किन्तु उन्हे आश्चर्य हुआ कि आज दूसरा दिन और रात भी गुजर गयी और महावीर का मौन ज्यों का त्यों? इन्द्र परेशान हो गया। उसने कुबेर से परामर्श किया कि कहीं हमारे स्वागत या व्यवस्था में तो कोई कमी नहीं रह गयी? किन्तु जहाँ कुबेर हो, वहाँ अव्यवस्था कैसी? तब फिर बात क्या है?

जृम्भिका गांव के निवासी एवं ऋजुकूला नदी का तट उस समय गर्व से फूले न समाते थे जब उनके घर में महावीर को परम ज्योति उपलब्ध हुई थी। वे आज उतने ही उदास थे एवं खिन्न कि महावीर ने जो कुछ भी वहाँ पाया उसका हम स्वाद तक न चख सके। और उस दिन तो उनके दुःख का पारावार न रहा जब कई दिनों के बाद भगवान महावीर बिना कुछ बोले अन्यत्र विहार कर गए। ऐसे लगा जैसे द्वार से भिक्षु खाली हाथों लौट गया हो।

कुबेर ने वहाँ से उस समवसरण की रचना को समेट लिया और वहाँ

तीर्थङ्कर महावीर जाकर ठहर गए थे वहाँ उसकी पुनः रचना कर दी। कुछ दिन वहाँ भी लोगों ने महावीर की अमृतवाणी सुनने की प्रतीक्षा में व्यतीत किये। किन्तु यहाँ भी वही हुआ। बिना कुछ उपदेश दिए ही महावीर अन्यत्र चल दिये। समवसरण फिर विसर्जित हो गया। जो लोग महावीर के तपस्या-काल के साक्षी थे, उन्हें कौशाम्बी में लिया गया महावीर का अभिग्रह याद आ गया। वहां जगत् के दरवाजे से महावीर बिना भोजन लिए लौट जाते थे, यहां महावीर के आंगन से जगत् प्यासा लौट रहा है। खिन्नता और दुःख दोनों जगह जगत् की झोली में ही पड़े। किन्तु फिर भी लोग इतना जानते थे कि तीर्थङ्कर महावीर मूक केवली नहीं हैं। उपदेश अवश्य देंगे। यही धारणा उन्हें सान्त्वना प्रदान कर रही थी।

विचरण करते हुए भगवान महावीर राजगिरि के निकट विपुलाचल पर आए। कुबेर और इन्द्र उनके पीछे-पीछे थे। यहाँ भी कुबेर ने एक अलौकिक विशाल सभामण्डप की रचना की। असंख्य श्रोता उसमें उपस्थित हुए। किंतु ज्ञान की गंगा में गतिरोध ज्यों का त्यों बना रहा। महावीर की वाणी प्रगट न हो सकी। अन्ततः समवसरण के व्यवस्थापक इन्द्र का ध्यान इस ओर गया। उसने कारणों की सूक्ष्म-गहन मीमांसा की। सारी स्थितियों को जाँचा-परखा। तब उसे अवधि-ज्ञान से पता लगा कि सम्यक् और यथार्थ ज्ञानी के अभाव में ज्ञान की गंगा का उद्गम रुद्ध है। सच्चे जिज्ञासु और सन्निष्ठ, विशुद्ध ग्राहक के अभाव में ज्ञान कैसा? सही जिज्ञासा के सन्दर्भ में ही तो ज्ञान की गरिमा और सार्थकता है। इस समय समवसरण में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो महावीर की वाणी को सुने-समझे और उसकी यथावत् अनुभूति अन्य प्राणियों को दे सके। जब तक इस प्रकार की कोई प्रज्ञा समवसरण में नहीं आती, यह गतिरोध बना रहेगा। स्वाभाविक है, सभा के श्रोता सुनेंगे, उनके मन में विविध जिज्ञासाएँ होंगी, उनका समाधान कौन करेगा? अतः यह निश्चित हुआ कि महावीर की वाणी मुखरित तभी होगी, जब सभा में कोई योग्य संवादी होगा। और वह है — 'ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम'।

शिल्पी-समुदाय में एकदम सन्नाटा था। जैसे सब प्रतीक्षा कर रहे हों

उस अनुभूति गौतम की। किन्तु चित्रांगद का मन तर्कशील हो रहा था। आचार्य के विराम लेते ही वह पूछ बैठा — 'गुरुदेव! महावीर तो सबका कल्याण चाहने वाले थे। वर्णविशेष या व्यक्ति विशेष का भेद उनके यहाँ नहीं था। फिर जब उपदेश देने का समय आया तो किसी विशेष प्रतिभा के प्रति आग्रह क्यों?'

'भद्र! तुम्हारे प्रश्न में ही इसका समाधान है। महावीर सबका कल्याण चाहते थे इसीलिए वे किसी ऐसी आत्मा की उपस्थिति में अपना उपदेश देना चाहते थे, जिससे उनका संवाद हो सके। साधारण ज्ञानी के प्रति या विशेष ज्ञानी के प्रति उनका कोई आग्रह नहीं था। क्योंकि ज्ञान के कोई भेद नहीं होते। भेद होते हैं अज्ञान के। अतः महावीर जैसे ज्ञानी आत्मा का संदेश ज्ञान की ओर अग्रसित कोई आत्मा ही ग्रहण कर सकती थी। चाहे वह पौधों में, पशुओं में, मनुष्यों में कहीं भी निवास क्यों न करती हो।

'महावीर को सुनना भी सबके वश की बात नहीं थी। जो आत्माएं ध्यान के प्रशिक्षण से गुजर कर शान्त हो जाती थीं वे ही महावीर के ज्ञान की किरणें ग्रहण कर पाती थीं। सम्भवतः ऐसी आत्माओं की तैयारी के लिए ही यह समवसरण, मानस्तम्भ आदि की रचना की जाती रही होगी। महावीर की वाणी का अधिक प्रचार न होने का एक कारण यह भी है कि उसे श्रेष्ठतम आत्माएं ही ग्रहण कर पायीं। प्रत्येक युग में जो आत्माएं उस स्थिति तक विकसित होंगी, वे उसे ग्रहण करती रहेंगी। जैसा मैंने कहा था कि महावीर का युग धार्मिक-उत्क्रान्ति का युग था। अतः उस समय अधिक जागृत आत्माएं महावीर के ज्ञान का लाभ उठा सकीं।'

'इन्द्र को जब ज्ञात हुआ कि इन्द्रभूति गौतम ही महावीर की वाणी मुखरित कराने में सहायक होगा तो उसका मन द्विविधा में पड़ गया। क्योंकि इन्द्रभूति गौतम प्रखर प्रतिभा का धनी तो है, पर तीर्थङ्कर महावीर पर उसकी श्रद्धा नहीं है। वह प्रतिस्पर्द्धा एवं शास्त्रार्थ में ही आनन्दित होता रहता है। उसे परम तत्वों का ज्ञान नहीं है। उसमें अपार मेधा है, किन्तु मिथ्यात्व की भावना प्रबल है। परन्तु उसे यदि किसी तरह तीर्थङ्कर महावीर के समवसरण में लाया जा सके तो उसके मिथ्यात्व को बदला जा सकता है। उसमें

सोया हुआ सम्यक्त्व जाग सकता है। जैसे ही इन्द्र के मस्तिष्क में यह बात आयी, उसे मानों अपनी कठिनाई का हल मिल गया। उसकी मनोव्यथा कुछ हलकी हुई। वह अपापा नगरी से ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम को यहा लिवा लाने की युक्ति सोचने लगा। अन्त में उसने एक बूढ़े बटुक का वेश धारण किया और इन्द्रभूति को लाने उसके आश्रम की ओर चल दिया।

अपापा नगरी में इन्द्रभूति गौतम अपने पांच सौ योग्य शिष्यों के साथ आश्रम बनाकर रहता था। वह वेद-वेदांगों का अद्भुत विद्वान् था। निरन्तर शास्त्रों के पठन-पाठन एवं शंका-समाधान में ही लगा रहता था। उसकी विद्वत्ता प्रसिद्ध थी। जब बटुक रूपी इन्द्र उसकी व्याख्यानशाला के समीप पहुंचा तो वह अपने शिष्यों की जिज्ञासाओं का समाधान कर रहा था। बटुक ने इन्द्रभूति गौतम को प्रणाम किया और वहीं एक किनारे पर बैठ गया। इन्द्र-भूति ने उसकी उपस्थिति का अनुभव किया। उसे लगा कि आगन्तुक वृद्ध में ज्ञान के लिए पूर्ण जिज्ञासा है एवं वह बहुत नम्र तथा शालीन भी है। उसने अपने विषय को समाप्त करते हुए बटुक से पूछा—'आर्य! आपका आगमन यहां किस आशय से हुआ है?'

इन्द्र ने विनयपूर्वक कहा—'महानुभाव, आपके ज्ञान की महिमा बहुत पहले से सुन रखी है। तर्क करने और शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करने में आपके सदृश कोई दूसरा नहीं है। वैसे ही आपके दर्शन करना चाहता था, किन्तु आज एक गूढ़ समस्या का समाधान लेने आया हूं। मेरे गुरु वर्द्धमान महावीर ने मुझे एक श्लोक सुनाया था। उसकी विशद व्याख्या भी की थी। किन्तु वृद्धावस्था के कारण मुझे उसका अर्थ विस्मरण हो गया। मैंने सोचा—'आपसे ही इसका अर्थ पूछ लूं। आप यदि इस श्लोक की गूढ़ताओं को एक बार भी समझा सकें तो बड़ा अनुग्रह होगा। यही आशा लेकर मैं यहां आया हूं। आज्ञा हो तो श्लोक कह सुनाऊं?'

इन्द्रभूति ने एक बार अपने शिष्यों की ओर देखा। सभी अपने गुरु की विद्वत्ता के प्रति आश्वस्त थे। किन्तु आचार्य गौतम महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति का समाचार थोड़े दिन पहले सुन चुका था। अतः उनका नाम बीच में आने से वह कुछ शंकित था। फिर भी उसने सगर्व कहा—'महानुभाव! आप

निःसंकोच होकर अपना श्लोक कहें।'

इन्द्र ने मधुर स्वर में इस प्रकार श्लोक पढ़ना प्रारम्भ किया—

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपद सहितं
जीवषट्काय लेश्या: ।
पंचान्येचास्ति काया व्रतसमिति
गतिज्ञान चारित्र भेदा: ।।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः
प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः ।।
प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च
मतिमान् य: स वै शुद्धदृष्टि: ।।

बटुक ने श्लोक समाप्ति के बाद जैसे ही इन्द्रभूति गौतम की ओर देखा, वह गहरी चिन्ता में डूबा हुआ था। श्लोक की गूढ़ताएं उसे समझ में नहीं आयीं। क्षण भर को उसे लगा जैसे उसके शास्त्रों का ज्ञान रूपी दीप अचानक बुझ गया है। उसने अभी तक मात्र शास्त्रों की सूचनाएं एकत्र की हैं। ज्ञान की एक किरण को भी वह नहीं पकड़ सका है। 'षट्द्रव्य', 'नवपदार्थ,' 'षट्लेश्या:,' 'पंचास्तिकाय,' 'व्रत,' 'समिति', 'ज्ञान,' 'चारित्र' आदि श्रमण-परम्परा के पारिभाषिक शब्दों की गूढ़ता से वह घिर गया। उसकी कच्ची मेधा धराशायी हो गयी। किन्तु विद्वत्ता का अहंकार सिर ऊंचा करके खड़ा हो गया। वह सोचने लगा—'इस श्लोक का शाब्दिक अर्थ मैं कर भी दूं तो भी व्याख्या में मेरा प्रवेश न हो सकेगा। मैं इस बटुक को अब क्या समझाऊं? इसके सामने मैं यदि अपनी अज्ञानता व्यक्त करता हूं तो इस उपस्थित शिष्य-समुदाय पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः इसके गुरु के पास जाकर ही मैं उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर अपना प्रभाव जमाऊंगा।'

इस निश्चय के साथ इन्द्रभूति ने बटुक से कहा—'महामति! तुम्हारा श्लोक बहुत ही उत्तम है। किन्तु इसकी समीक्षा और विश्लेषण करने से पूर्व मैं तुम्हारे गुरु से मिलना चाहता हूं। उनसे ही इस सम्बन्ध में खुलकर बात करूंगा। क्या तुम मुझे वहां तक ले चलोगे?'

बटुकरूपी इन्द्र को और क्या चाहिए? उसका उद्देश्य पूरा होने को

था। फिर भी वह मन की प्रसन्नता को छिपाते हुए बोला—'जैसी आपकी आज्ञा। आप कहें तो अभी चल सकते हैं।' इन्द्रभूति गौतम उसी क्षण उसके साथ हो लिया। वे दोनों महावीर के समवसरण की ओर विपुलाचल पर्वत की तरफ चल पड़े।'

उधर समवसरण में कुछ दूसरा ही वातावरण था। उपस्थित जनसमुदाय में से जिनको इन्द्र की इस योजना का पता था वे उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे और जो इससे अनभिज्ञ थे वे तीर्थङ्कर महावीर के मौन के प्रति चिंतित थे। किन्तु उनकी मुखरता के प्रति आशावान। तत्कालीन वज्जि एवं लिच्छवि गणराज्यों के प्रमुख उल्लासपूर्वक समवसरण में विचरण कर रहे थे। राजा श्रेणिक आरम्भिक प्रवेशद्वार पर खड़े हुए आगन्तुकों का स्वागत कर रहे थे। वे प्रसन्न थे कि भगवान महावीर की अमृतवाणी के श्रोताओं का स्वागत करने का उन्हें अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है।

इन्द्रभूति गौतम ने उस समवसरण के प्रवेशद्वार में जैसे ही प्रवेश किया, बटुक कहीं लुप्त हो गया। इन्द्रभूति ने सोचा—वृद्ध कहीं पीछे छूट गया होगा। क्षणभर बाद वही बटुक इन्द्र के रूप में उसका स्वागत कर रहा था। गौतम जैसे ही आगे बढ़ा, मानस्तम्भ देखकर स्तम्भित रह गया। उसको मानस्तम्भ की ऊँचाई और विशालता के समक्ष अपनी लघुता के दर्शन हो गये। बस, दृष्टि फिरने की ही देर थी। उसके मन का सारा कलुष धुल गया। अहंकर बर्फ-सा पिघल गया। सूरज की किरणें जैसे ओस की बूंदों को सोख लेती हैं, ज्ञान की आलोक रश्मियों ने इन्द्रभूति गौतम के अज्ञान तम को गला दिया। उसके पग अनायास महावीर के सिंहासन की ओर बढ़ गये।

इन्द्रभूति गौतम की प्रतिमा अब श्रद्धा से युक्त होती जा रही थी। गन्ध कुटी के निकट पहुंचकर वह महावीर की मंगल मुद्रा को निर्निमेष देखने लगा। वह एक अद्भुत दृश्य था। किसी प्रकार की कोई बात-चीत नहीं, फिर भी संभाषण हो रहा था। दो निर्मल आत्माओं का संवाद। गौतम क्षणभर में गतगर्व हो गया। आया था शस्त्रार्थ करने, किन्तु यहां शास्त्र के सभी तर्क ठंडे पड़ गये। वीतरागता ने उसके दम्भपूर्ण मिथ्यात्व को बुहार दिया। मन के बसन उतरते ही तन के बसन उतरने में देर नहीं लगी इधर सम्यग् श्रद्धान

होते ही गौतम को मनःपर्यय ज्ञान की उपलब्धि हुई, उधर महावीर की दिव्य ध्वनि श्रोताओं की मन-धरती को सींचने लगी। श्रोताओं की प्रतीक्षा सफल हुई। प्रथम गणधर गौतम ने तीर्थंकर महावीर की कुशलता को धारण करना प्रारम्भ कर दिया। मानवता के मंगल के लिए ज्ञान की गंगा प्रवाहित होने लगी।

महावीर को केवलज्ञान प्राप्त किये आज ६६ दिन हो गये थे। अतः श्रावण कृष्णप्रतिपदा उनकी देशना का प्रथम दिन हुआ। अभी तक लोगों ने जाना था कि वर्षाऋतु में केवल मेघ बरसते हैं। उससे शस्य श्यामला भूमि फलती-फूलती है। किन्तु महावीर के अमृतवचनों की वर्षा से वह श्रावण का मास और अधिक सार्थक हो गया। सभा में उपस्थित जन-समुदाय के हृदय जनम-जनम के लिए पवित्र हो गये। इस अवसर पर देवताओं की प्रसन्नता अकथनीय थी। वे विभिन्न प्रकार के उत्सव मनाने में व्यस्त थे।

• •

१२. जनहित के लिए जनभाषा

भगवान महावीर की प्रथम देशना की कथा कहते हुए आचार्य कश्यप क्षण भर के लिए रुके। उन्होंने देखा सूर्य काफी ऊपर चढ़ आया है। शिल्पी-समुदाय ऐसे प्रकाशित हो रहा था, जैसे महावीर की वाणी की वर्षा कुछ इधर भी हो गयी हो। ज्ञान के प्रति वही जिज्ञासा, वही प्यास, जो समवसरण में उपस्थित गौतम के हृदय में जगी थी। आचार्य कथा का सूत्र पकड़ ही रहे थे कि किसी ने एक प्रश्न छोड़ दिया—

'आचार्यप्रवर ! अपूर्व होगा वह क्षण जब भगवान महावीर इतनी लम्बी तपस्या एवं प्रतीक्षा के बाद बोले होंगे। गुरुदेव ! ऐसी वह कौन-सी भाषा थी, जिसमें वे अकेले बोलें और सभी प्रकार के जीवों तक उनकी वाणी संप्रेषित हो जाय ? तथा उन्होंने अपनी प्रथम देशना में जन-कल्याण के लिए क्या उपदेश दिया ? हम उसे आपके मुख से सुनना चाहते हैं।'

'आयुष्मति कनकप्रभा ! वह कोई अलौकिक भाषा नहीं थी, जिसमें महावीर बोले थे। अलौकिकता, विशिष्टिता एवं चमत्कारिकता के प्रति महावीर का प्रारम्भ से ही उपेक्षा भाव रहा है। वे नहीं चाहते थे कि अपने ज्ञान के सम्प्रेषण के लिए वे एक ऐसी भाषा चुनें, जिसे कुछ सुविधासम्पन्न लोग ही समझ पायें। उनके वर्षों के अनुभव एक छोटे से वर्ग में सीमित हो जांय। अतः धर्म और दर्शन के लिए प्रसिद्ध संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा वे नहीं अपना सके। इसके कई अन्य कारण भी थे। भाषा जब बहुत दिनों तक किसी परम्परा से सम्बन्धित हो जाती है तो उसके शब्दों के अर्थ भी निश्चित हो जाते हैं। महावीर का सोचना एवं अनुभव नये ढंग का था। अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिए भी विशेष ध्वनि का प्रयोग उन्हें करना पड़ा, जो अनपढ़ लोगों की भाषा में ही मिल सकती थी। व्यवहार की भाषा में। जीवन की सीधी-सादी भाषा में। सरलता और स्वाभाविकता के कारण उस भाषा का

नाम ही प्राकृत पड़ गया । इसे अर्धमागधी महाराष्ट्री आदि नामों से भी जानते हैं ।

इस जनभाषा को अपनाने में एक कारण यह भी था कि महावीर का मन शास्त्रीय नहीं था । उनकी जिन्दगी किताबों के घेरों में नहीं गुजरी थी । उन्होंने खुले आकाश के नीचे स्वतन्त्र विचरण किया था । अतः वे जो कह रहे थे वह उनके प्राणों से निकल रहा था । एकदम मौलिक और सच्चा । उसे वे वैसा ही रखना चाहते थे । अतः उन्होंने प्राकृत को अपनी देशना का माध्यम बनाया । जीवन भर यही भाषा उन्होंने पग-पग पर सुनी थी । इसी में वे जिये थे ।

महावीर जैसा उदारचेता मिलना कठिन है । उन्होंने जगत् के समस्त पदार्थों से जीवन पाया था, अतः अब जब वे अपनी ज्ञाननिधि लुटाने चले थे तो चाहते थे कि उसका प्रसार सारे जगत् में हो जाय । सभी अपना-अपना कल्याण देख सकें । इसके लिए उन्होंने प्राकृत भाषा को अपनाकर सबसे पहला कार्य यह किया कि धर्म को बीच बाजार में लाकर खड़ा कर दिया । अब धर्म उनका था जो उसे सुन सकते थे, समझ सकते थे । आत्मकल्याण चाहने वाले के लिए अब किसी मध्यस्थ की आवश्यकता न रही । न किसी बहाने की । महावीर ने आत्मा और परमात्मा को आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया । किसे किधर जाना है इसका निर्णय वह अब स्वयं करे । इस स्थिति ने उस समय ऐसे कई लोगों को नाराज कर दिया, जो दूसरों के भरोसे भर सौंपकर आराम से सो रहे थे । यही कारण है कि महावीर द्वारा इस जनभाषा को अपना लेने से न केवल पंडित लोग उनके विरोध में खड़े हो गये, अपितु वे भी, जो इन पंडित पुजारियों पर आत्मकल्याण के लिए निर्भर थे ।

'महावीर जो इन्द्रभूति गौतम के लिए ६६ दिन तक मौन रहे वह अकारण नहीं था । बल्कि उसकी दीक्षा इस बात की प्रमाण थी कि मात्र शास्त्रों का पारंगत होना आत्मकल्याण के लिए पर्याप्त नहीं है । उसके लिए जीवन के अनुभवों से गुजरना पड़ेगा । इस प्रकार एक प्रकाण्ड ब्राह्मण पंडित को अपना शिष्य बनाकर महावीर ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वर्ग या वर्ण की श्रेष्ठता एवं परम्परागत पुस्तकीय ज्ञान प्रतिभासम्पन्न भले बना दे, किन्तु

प्रज्ञावान नहीं। उसके लिए आत्मसाधना नितान्त आवश्यक है।'

'भद्रे ! तुमने पूछा—महावीर ने प्रथम देसना में क्या उपदेश दिये ? उनकी विशद विवेचना मैं श्रमण-परम्परा के अन्य सिद्धान्तों के साथ बाद में करूँगा। इतना कह देना चाहता हूं कि महावीर ने अपने प्रथम उपदेश में क्या कहा, उसे वास्तविक रूप में या तो इन्द्रभूति गौतम बता सकेंगे अथवा उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा निर्मित आगमग्रन्थ। मैं तो यह जानता हूं कि महावीर की आत्मा उस स्थिति तक पहुंच गयी थी कि उससे जो भी प्रगट हुआ होगा वह जनसमुदाय के, प्राणिमात्र के हित के लिए ही। वहां न कोई खण्डन था, न मण्डन। केवल थी सत्य तक सीधी पहुंच। न आडम्बर, न दुराव, न कोई छल। वहां था आत्मा की अनन्त ऊर्जा से साक्षात्कार का सीधा-सच्चा मोक्षमार्ग। सच्ची जिज्ञासा, सच्ची पहचान और सच्चा आचरण, यही भगवान महावीर के प्रथम उपदेश का सार था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य को समकालिक सन्दर्भों एवं उनकी अर्थवत्ता के साथ प्रस्तुत किया गया था। इतने मनोहारी ढंग से कि उपस्थित प्राणी मंत्रमुग्ध हो सुनने में लीन थे।

००

१३. प्रतिभा एवं प्रज्ञा का समन्वय

ब्राह्मण विद्वान् इन्द्रभूति गौतम का महावीर के समवसरण में आना ही आश्चर्यजनक था। जब वह उनसे दीक्षित हो गया तो यह उस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना हो गयी। तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक जगत् में इसकी जोरों से चर्चा होने लगी। भगवान महावीर की तपस्या की प्रसिद्धि तो समाज मे थी, विद्वान् भी उससे परिचित थे, किन्तु उनमें इतनी प्रज्ञा है कि इन्द्रभूति जैसे विद्वान् उनको अपना गुरु मान लें यह किसी ने न सोचा था। अतः जो विद्वान् थे वे महावीर के ज्ञान की परीक्षा करने के लिए उनके पास एकत्र होने लगे। और जो सामान्य नागरिक थे वे मात्र जिज्ञासावश महावीर को घेरे रहते। देखें, कौन हारता एवं कौन जीतता है?

समवसरण में भगवान महावीर एवं इन्द्रभूति गौतम में 'आत्मा' के अस्तित्व एवं स्वरूप आदि पर चर्चा हो रही थी। जनसमुदाय पहली बार अनुभव कर रहा था कि आत्मा की निर्मलता की राह कितनी सीधी है। तभी वहां इन्द्रभूति का छोटा भाई अग्निभूति अपने शिष्यों के साथ आ पहुंचा। वह अपने स्थान से यह सोचकर चला था कि हो सकता है कि मेरे बड़े भाई को अकेला जानकर महावीर ने हरा दिया हो। मैं जाकर उनके सभी तर्कों को छिन्न-भिन्न कर दूंगा। महावीर को हमारी विद्वत्ता के आगे झुकना पड़ेगा। किन्तु जैसे ही वह समवसरण के सोपानमार्ग तक पहुंचा, उसका जोश ठण्डा पड़ने लगा। यह क्या, उसके मन में भी तीर्थंकर महावीर की सर्वज्ञता के प्रति श्रद्धा उमड़ने लगी। फिर भी उसने निश्चय किया कि मैं प्रश्न तो उनसे करूंगा ही।

महावीर के समक्ष पहुंचते ही उसे महावीर की वाणी सुनायी पड़ी—'प्रिय अग्निभूति! क्या तुम्हें कर्म के अस्तित्व के विषय में शंका है?'

बिना कहे ही उसका प्रश्न जान लिया गया, अग्निभूति को यह आश्च

नहीं थी। वह श्रद्धा से भर गया। हाथ जोड़कर बोला—'भगवन ! आपने ठीक जाना। शास्त्रों में 'पुरुषाद्वैत' की इतनी महिमा है कि सर्वत्र 'पुरुष' ही व्याप्त है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। तब कर्म का अस्तित्व क्या ? और फिर जीव चेतन है, कर्म अचेतन। इनमें सादि या अनादि किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इससे आत्मा की मुक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता।'

'महानुभाव, यह प्रत्यक्ष से ही प्रमाणित है कि जगत् में चेतन और अचेतन दो तरह के पदार्थों का अस्तित्व है। तथा जिस प्रकार अरूपी आकाश के साथ रूपी द्रव्यों का सम्पर्क देखा जाता है, उसी प्रकार अचेतन कर्मों का चेतन आत्मा के साथ भी सम्बन्ध सम्भव है। जिस प्रकार यह सम्बन्ध जीव की विभिन्न क्रियाओं व मनोभावों से स्थापित होता है, उसी प्रकार जीव के अपने प्रयत्नों द्वारा इस सम्बन्ध का विच्छेद भी सम्भव है।'

इस प्रकार अनेक युक्तियों और उदाहरणों द्वारा जब महावीर ने जीव एवं कर्म के सम्बन्धों की विशद व्याख्या की तो अग्निभूति उनकी सर्वज्ञता के प्रति नतमस्तक हो गया। उसने भी अपनी शिष्यमण्डली के साथ महावीर से दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रमणधर्म स्वीकार कर लिया। यह खबर हवा की भांति समाज में फैल गयी। जिसने सुना वही आश्चर्यचकित।'

इन दोनों गौतम विद्वानों का छोटा भाई वायुभूति भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने महावीर के पास दौड़ा आया। महावीर ने जब उसकी शंका—'जीव और शरीर का पृथक-पृथक अस्तित्व है या नहीं ?' को अच्छी तरह समाधित कर दिया तो वह भी अपने भ्राताओं का अनुगामी हो गया। इन तीन गौतम विद्वानों की दीक्षा ने तत्कालीन धार्मिक-जगत् को बेचैन कर दिया। महावीर के पास इस प्रकार के शास्त्रों के अनेक ज्ञाताओं की भीड़ लग गयी। कहा जाता है कि उस समय के प्रसिद्ध इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण आचार्यों को उनकी प्रत्येक की शंकाओं का समाधान करते हुए महावीर ने अपने पास दीक्षित कर लिया था। इस प्रकार महावीर ने इन विद्वानों की शंकाओं के माध्यम जीव-अजीव के अस्तित्व, कर्मसिद्धान्त, आत्मा एवं शरीर की भिन्नता, स्वर्ग-नरक के अस्तित्व, पाप-पुण्य की परिभाषा, पुनर्जन्म, मोक्ष का स्वरूप

आदि अनेक विषयों की अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर स्पष्ट कर दिया था। परम्परा कहती है कि एक ही दिन में लगभग चार हजार ब्राह्मण विद्वानों ने महावीर की सर्वज्ञता स्वीकार कर उनसे दीक्षा ग्रहण की थी।'

'भद्र चित्रांगद! इस घटना को जरा गहराई से समझें। हमें संख्या में जाने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रत्येक महापुरुष के साथ एक काव्य का निर्माण होता है। काव्य प्रतीकों से गढ़े जाते हैं। अतः उन्हें पढ़ते समय उतनी गहरी संवेदना रखना भी आवश्यक है। महावीर के पास आकर इतनी बड़ी संख्या में विद्वानों ने दीक्षा ली या नहीं, इतने विद्वान् ब्राह्मण परम्परा में थे या नहीं, प्रश्न इनकी प्रामाणिकता को जांचने का नहीं है। बल्कि प्रयत्न यह है कि इससे अनुस्यूत क्या होता है? महत्व उसका है।

मुझे इस मिथक की दो फलश्रुति दृष्टिगत होती हैं। महावीर ने सर्वप्रथम ब्राह्मण विद्वानों को दीक्षितकर दो बातों को स्वीकृति प्रदान की। प्रथम यह कि जो शास्त्रों का ज्ञान है, वह तर्क को पैदा करता है, प्रतिभा को पैनी बनाता है, किन्तु उससे प्रज्ञा की उपलब्धि करना शेष बना रहता है, जो सहज आत्मा-नुभूति से सम्भव है। इस प्रकार यदि प्रतिभा और प्रज्ञा का समन्वय हो सके तो जगत्, आत्मा, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ये बातें इतनी गूढ़ नहीं हैं, जितनी इन्हें समझ लिया गया है। यदि इनके वास्तविक स्वरूप को बिना छिपाये हुए जन-समुदाय के आगे प्रस्तुत किया जाय तो धर्म जैसी सरल और ग्राह्य वस्तु दूसरी नहीं है। प्रत्येक आत्मा उसे ग्रहण करने का अधिकारी है।

दूसरी बात यह कि जब समाज के अन्य वर्ग को पथप्रदर्शन करने वाला ब्राह्मण वर्ग स्वयं महावीर के पास दीक्षित होने लगा, उनके वचनों में श्रद्धान करने लगा तो उनके अनुयायियों को सद्बुद्धि आते देर नहीं लगेगी। महावीर के स्वभाव में ही केन्द्र को साधना रहा है, चाहे वह धार्मिक क्षेत्र हो या सामाजिक। इस प्रकार महावीर ने एक ओर जनभाषा का प्रयोग कर समस्त लोक-जीवन को अपने उपदेशों की परिधि में खींच लिया तो दूसरी ओर ब्राह्मण विद्वानों की दीक्षा द्वारा उस दूसरे वर्ग को भी उन्होंने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया जिनकी जीवन-पद्धति ही शास्त्रीय थी। लोक और

शिवट का यह समन्वय तीर्थंकुर महावीर की अपूर्व देन थी।

इस प्रकार इस समवसरण में तीर्थंकुर महावीर की उपकारी वाणी ने प्राणियों को उनके भीतर जाकर छुआ। उनकी चिंतन शैली को पूर्णतया बदल दिया। करुणा की परम ज्योति से उनके मनःप्राण जाग गये और रोम-रोम झूम गया। धर्म का जो स्वाभाविक और मंगलमय रूप जन-समुदाय के सम्मुख उपस्थित हुआ, उससे उनके भाव सरल हो गए और वृत्तियां संयत हो गयीं। समाज को जीवन में पहली बार धर्म की व्यापक लोकप्रियता का बोध हुआ। वह यह जानकर अचम्भे में था कि वही मनुष्य जो कल तक शोषण कर रहा था, आज एक शोषण-रहित समाज की संरचना का पक्षपाती है। महावीर के ज्ञान और साम्यभावना के प्रति लोग श्रद्धा से आविर्भूत थे। महावीर की निःसीम करुणा ने लोकमानस को क्रान्ति के एक अभिनव मोड़ पर ला खड़ा किया। एक ऐसे बिन्दु पर, जहां से शोषण, बैर, घृणा, हिंसा आदि का कोई स्थान नहीं। आत्मस्वातन्त्र्य के तथ्य से सत्य और अहिंसा की अपराजिता शक्तियां पुनः प्रभावशाली हो गयीं। इस प्रकार महावीर की समत्व की देशना ने वैषम्य की धुंध हटा दी।

●●

१४. चतुर्विध-संघ

भगवान महावीर के तीर्थंकर जीवन की कथा प्रतिदिन चलती रही। आचार्य कश्यप ने प्रमुख गणधरों की दीक्षा के बाद अन्य लोगों की दीक्षा की कथा भी कही। चतुर्विध संघ स्थापना की बात उन्होंने इस प्रकार प्रारम्भ की—

महावीर के पास अब इतनी दीक्षित आत्माएं हो चुकी थीं कि उन्हें आत्म-शुद्धि के मार्ग में जाने के लिए निर्देशन देना आवश्यक हो गया था। अतः महावीर ने एक समवसरण में श्रमणसंघ की स्थापना की घोषणा की। व्यवस्था की दृष्टि से वह चार भागों में विभक्त हुआ—श्रावक, श्राविका; एवं साधु, साध्वी। आत्मकल्याण के लिए महावीर की जो साधना थी उस तक पहुंचने के लिए साधकों का यह क्रम बहुत आवश्यक था।

महावीर ने मुनि और गृहस्थधर्म की अलग-अलग व्यवस्थाएं स्थापित कीं। उन्होंने धर्म का मूलाधार अहिंसा को बनाया और उसी के विस्ताररूप पांच व्रतों—अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन एवं अपरिग्रह—को स्थापित किया। इन व्रतों व यमों का पूर्ण रूप से पालन मुनियों के लिए निर्धारित किया, जो महाव्रत कहलाए। एवं स्थूलरूप से पालन गृहस्थों का धर्म कहलाया, जिसे अणुव्रत-पालन भी कहा गया। इन दोनों साधकों की श्रेणियों में व्रतों के दोषो व अन्य अपराधों के निवारण के लिए महावीर ने प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि की व्यवस्था की। इस प्रकार महावीर ने चतुर्विध-संघ द्वारा आत्मकल्याण का मार्ग प्रत्येक के लिए खोल दिया।

चतुर्विध-संघ की स्थापना करने में महावीर का गहन चिन्तन और मानव कल्याण की भावना निहित है। महावीर ने अहिंसा के विस्तार द्वारा अपनी चेतना इतनी विस्तृत कर ली थी कि सामान्य प्राणी-जगत् से उनका तादात्म्य स्थापित हो चुका था। मनुष्य निम्न स्तर के जो प्राणी हैं उनके लिए महावीर

अहिंसा द्वारा बहुत कुछ दे चुके थे। अपने साधनाकाल में वे अधिकतर इन्हीं दो स्तरों के प्राणियों के बीच रहे—पशु-पक्षियों के मध्य और देवताओं से घिरे हुए। देवताओं से तादात्म्य स्थापित करने के लिए उन्होंने अपने मस्तिष्क को कुछ इस प्रकार विकसित किया था कि उनसे बातचीत हो सकती थी। अतः मनुष्य से निम्न और उच्च श्रेणी के प्राणियों के आत्मकल्याण की बात महावीर बहुत पहले से करते आ रहे थे। अपनी साधना और केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद वे मानव नामक प्राणी से तादात्म्य स्थापित करना चाहते थे। अपने तीर्थङ्कर जीवन में विभिन्न स्थानों के परिभ्रमण द्वारा उन्होंने यही किया है।

मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में उन्होंने दो प्रयत्न किये। दिव्यध्वनि द्वारा मानव की चेतना तक पहुंचना और संघ-व्यवस्था द्वारा उसके साधुपने को विकसित करना। इस अर्थ में महावीर का अपूर्व योगदान है। देवगति एवं सामान्य प्राणि जगत् को प्रतिबोध देने के लिए बोलना आवश्यक नहीं था। इसीलिए महावीर साधनाकाल में प्रायः मौन रहे। किन्तु मनुष्य तक संदेश पहुंचाने के लिए शब्दों का माध्यम चुनना आवश्यक हो गया। अतः महावीर की दिव्यध्वनि हुई। दिव्यध्वनि क्या है? इसके प्रतीक को भी समझें वह एक ऐसी वाणी है, जो न बोली गयी है और न सुनी गयी है, किन्तु फिर भी मानव की चेतना तक पहुंच गयी है। महावीर की चेतना के भीतर वह वाणी उठी और ऐसे मानव के अन्तस् तक वह पहुंच गयी, जिसने सुनने के लिए कानों का नहीं, अपितु अपने प्राणों का उपयोग किया। ऐसे श्रोता की ही तलाश थी महावीर को। जब मिल गया, तब उनकी वाणी सम्प्रेषित हुई।

अतः महावीर ने चतुर्विध-संघ में 'श्रावक' को पहले रखा है। वे पहले महापुरुष हैं इस जगत् में, जिन्होंने केवल यह नहीं सोचा कि मात्र मैं ठीक और प्रामाणिक बोलूं, अपितु उन्होंने इस बात का भी प्रयत्न किया कि मेरी बात ठीक से सुनी भी जाय। शब्दों का भी अपव्यय वे नहीं चाहते थे। इसी-लिए महावीर ने पहला कार्य किया श्रावक बनाने का। बहुत कठिन कार्य है, किसी को सुनने के लिए तैयार करना। बोलने से भी कठिन। किन्तु

महावीर ने श्रावक की कला को विकसित किया। उन्होंने भेद किया श्रोता और श्रावक में। श्रोता वह जो कानों से शब्द सुने, किन्तु श्रावक वह, जिसका चित्त सुने। और वह तभी सुन सकता है जब उसके मन की विचार-परिक्रमा सब जगत् से वापिस लौटकर शान्त हो जाय। वह है सच्चा श्रावक।

'श्रावक' को विकसित करने के लिए महावीर ने अनेक प्रयोग किये हैं। वे उसे मौन में ले जाना चाहते हैं, जहां वह अपनी आत्मा के अधिक निकट हो सके। इसके लिए ही महावीर ने उसे सामायिक एवं प्रतिक्रमण आदि करने की व्यवस्था की है। इन शब्दों का प्रयोग महावीर ने क्यों और कितने गहरे अर्थ में किया है, इस पर बाद में कहूंगा। अभी इतना समझें कि अपनी चेतना को बाहर से वापिस बुलाकर एकत्र करना प्रतिक्रमण है। अर्थात् बाह्य सम्बन्धों से निसंग हो जाना प्रतिक्रमण है, जिसे ध्यान का पहला चरण भी कह सकते हैं। सामायिक है, दूसरा पग। समय का अर्थ है—आत्मा और सामायिक का अर्थ है—आत्मा में होना। अतः महावीर ने मनुष्य को श्रावक बनाने के लिए प्रथम उसे आत्मा में लौटना सिखाया और बाद में आत्मा की अनुभूति करना। ऐसी स्थिति में यदि मोक्ष या आत्मकल्याण की बात कही जायेगी तो श्रावक उसका अनुकरण कर सकेगा।

चतुर्विध-संघ में श्रावक-श्राविका को प्रथम रखने का तात्पर्य यह है कि महावीर की साधना-पद्धति श्रावक से प्रारम्भ होती है। एकदम से कोई साधु नहीं हो सकता। जब व्यक्ति ध्यान और सामायिक से गुजरना सीख ले तो उसे साधु होने में परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। अतः श्रावक वह भूमिका है, जहां साधु का जन्म हो सकता है। साधु होने के लिए घर-बार उसकी कोई रुकावट नहीं होगी, यदि उसका चित्त सचमुच श्रावक हो चुका है तो। उसके ध्यानस्थ होते ही सब स्वयं छूट जायेगा। अतः महावीर की देसना सुनकर उसके साथ जो व्यक्ति हो लिए उन्होंने गृहस्थ जीवन का त्याग नहीं किया, अपितु महावीर के पास इतनी बहुमूल्य निधि को वे पा गये कि और सब कुछ उनके लिए निरर्थक हो गया।

आचार्यप्रवर! आपकी अनोखी व्याख्या है। एकदम चेतना के तल में उतर जाने वाली। आपने कहा कि महावीर ने श्रावक या साधु को प्राथमिकता

थी। श्राविका या साध्वी को दूसरा स्थान। गुरुदेव! महावीर तो समानता के पोषक थे। फिर नारी होने मात्र से साधना में दूसरा स्थान क्यों?

आयुष्मति! महावीर की पूरी साधना संकल्प की और श्रम की है। सत्य को पाने के लिए अन्तर एवं बाह्य न जाने कितने संघर्षों से गुजरना पड़ता है। इसीलिए महावीर कहते हैं कि मोक्ष पाना है तो पुरुष का चित्त भी पाना होगा। स्त्रैण चित्त से मोक्ष सम्भव नहीं है। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने पुरुष का संकल्प अवश्य धारण किया होगा।

इस प्रकार महावीर के मन में स्त्री-पुरुष के भेद को लेकर कोई समानता-असमानता नहीं थी—भद्रे! तुम्हें आश्चर्य होगा कि महावीर के संघ में कहा जाता है—तेरह हजार साधु थे और चालीस हजार साध्वियां। यह अनुपात बहुत समय तक ऐसा बना रहा। इससे स्पष्ट है कि महावीर ने मुक्ति का मार्ग सबके लिए समान रूप से प्रशस्त किया था। जिसमें जितनी सामर्थ्य व संकल्प हो वह उस दिशा में गतिशील हो सकता था। महावीर के संघ में इस प्रकार से नारी-पुरुष को खुला आमन्त्रण होने से समाज का अनुपात भी बना रहा। इसीलिए महावीर के धर्म को भारतीय समाज अनेक प्रभावों के बाद भी छोड़ नहीं सका।

●●

१५. मत–मतान्तरों का विसर्जन

'भद्र ! महावीर का समवसरण क्रमशः एक स्थान से दूसरे स्थान पर गतिशील होता रहा। वैशाली का चातुर्मास समाप्त कर महावीर ने वत्सभूमि की ओर विहार किया। मार्ग में अनेक स्थानों मे धर्म-प्रचार करते हुए वे कौशाम्बी पहुंचे। वहां के राजा उदयन ने उनका भव्य स्वागत किया। उसी नगर में जयन्ती नामक एक जैन-श्राविका रहती थी। वह विदुषी भी बहुत थी। उसने जब महावीर के उपदेश सुने तो वह गद्‌गद् हो गयी। अवसर पाकर उसने महावीर से अपनी अनेक शकाओ का निवारण भी किया। चक्षु, जिह्वा आदि इन्द्रियो के वशीभूत होकर जीव किस प्रकार कर्मबन्धन करता है तथा उससे छुटकारा कैसे सम्भव है, आदि प्रश्न करके जयन्ती ने विस्तार से अपनी जिज्ञासा को शान्त किया। तथा भिक्षुणी सघ में उसने दीक्षा ले ली।'

'भगवान महावीर केवल उत्तर भारत में ही नही, अपितु पश्चिम भारत के प्रदेश में भी धर्मप्रभावना के लिए विहार किया करते थे। एक बार वे चम्पा नगरी से सिन्धु की राजधानी वीतभयपत्तन को गये थे। वहां उन्होंने तत्कालीन राजा उदयन को श्रमणधर्म मे दीक्षित किया था तथा चतुर्मास के लिए पुन: उत्तरभारत मे लौट आये थे।'

एक बार अपनी साधना के अठारहवे वर्ष मे वे बनारस से राजगृह की ओर जा रहे थे। रास्ते मे आलविया नगरी पड़ती थी। वहां पोग्गल नामक एक परिव्राजक रहता था। महान् तपस्वी एवं विभंग-ज्ञान का धारी, जिसके बल पर उसे भविष्य का ज्ञान भी हो जाता था। अत: वह बहुत-सी बातों का प्रचार कर रहा था, जिन्हें महावीर के अनुयायी सत्य नहीं मानते थे। जब उस परिव्राजक ने वहां महावीर के आगमन की बात सुनी तो वह उनके दर्शन के लिए भी चला गया। दर्शन करते ही उसे अपने ज्ञान की थाह मिल गयी। वह महावीर के वचनों का श्रद्धालु हो गया तथा वहीं पर अपने

मत को छोड़कर उसने श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। उसके साथ अन्य कितने लोग भी दीक्षित हुए। इस प्रकार महावीर आलभिया से, कौशाम्बी, विदेहभूमि, वैशाली आदि अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए श्रमण-धर्म का उपदेश देते रहे। साधना के उनके बीस वर्ष पूरे हो गये। तीर्थङ्कर जीवन के आठ वर्षों में उन्होंने आत्मकल्याण के मार्ग में अपूर्व क्रान्ति कर दी थी। हजारों लोग उनके अनुयायी बन चुके थे।

इक्कीसवें वर्ष में महावीर काकन्दी से श्रावस्ती होते हुए काम्पिल्य नगर में पधारे। वहां कुण्डकोलिक गृहपति को श्रमणोपासक बनाकर वे घूमते हुए पोलासपुर पहुंचे। वहां सद्दालपुत्र नामक एक कुम्हार रहता था। वह करोड़पति था तथा सम्भ्रान्त नागरिक। वह आजीविक सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसकी पत्नी अग्निमित्रा भी आजीविक सम्प्रदाय की प्रमुख उपासिका थी।

उस दिन प्रातः वह सद्दालपुत्र अपने आराध्य गोशालक की अगवानी करने निकला था, किन्तु महावीर के दर्शन हो जाने पर वह अनुग्रह कर उन्हें ही अपनी भाण्डशाला में लिवा लाया। महावीर भी अपने शिष्यों के साथ वहां ठहर गये। क्योंकि वे उसे तत्वज्ञान से परिचित कराना चाहते थे। भाण्ड-शाला में जब वह कुम्भकार अपने कार्य में लीन था तो महावीर ने पूछा—'सद्दालपुत्र, यह बर्तन किस प्रकार बना है तथा इसमें किसका पुरुषार्थ लगा है?'

उसने उत्तर दिया—'भगवन्! यह बर्तन मिट्टी से क्रमशः विकास करते हुए बना है। इसकी नियति में बर्तन बनना निश्चित था। मैंने इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं किया। सभी कार्य अपने निश्चित प्रारब्ध से होते हैं।'

महावीर ने पुनः प्रश्न किया—'सद्दालपुत्र, यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे इन बर्तनों को चुराले या तोड़-फोड़ डाले अथवा तुम्हारी पत्नी से अनाचार करने लगे तो तुम क्या करोगे?'

सद्दालपुत्र ने जबाब दिया—'भगवन्! मैं उस व्यक्ति को पकड़कर मारूंगा तथा अपने नुकसान का बदला लूंगा। राजा से दण्ड दिलाऊंगा, इत्यादि।'

महावीर ने समझाया—'भद्र ! तुम्हारे मत से तो प्रत्येक कार्य अपनी नियति के कारण होता है। अतः वह व्यक्ति अपराधी कैसे होगा ? तुम उसे किस बात की सजा दोगे ?'

सद्दालपुत्र समझ गया कि नियतिवाद का सिद्धान्त कितना अव्यवहारिक है। वह श्रमण भगवान महावीर के चरणों में नतमस्तक हो गया। अपनी पत्नी सहित उसने महावीर का उपदेश सुना एवं उनका अनुयायी बन गया। श्रावकधर्म का पालन करने लगा।

सद्दालपुत्र के धर्मपरिवर्तन का समाचार क्षण भर में सारे नगर में फैल गया। क्रमशः आजीविकसंघ के आचार्य गोशालक के कानों में भी यह खबर पड़ी। वह चिन्तित हो उठा। इससे उसके सम्प्रदाय का प्रभाव कम हो जाने की आशंका थी। गोशालक सद्दालपुत्र के समीप आया, किन्तु उसने उसकी कोई विनय आदि नहीं की। इस पर गोशालक ने उसे शान्ति से समझाया। किन्तु वह श्रमण-धर्म से विचलित नहीं हुआ। अन्त में हार कर गोशालक वापिस चला गया। भगवान महावीर भी कुछ दिनों बाद वाणिज्य ग्राम की ओर विहार कर गये।

'बाईसवां वर्षावास महावीर ने राजगृह में किया। वहां महाशतक गाथापति आदि ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। वहां से चलकर महावीर कंचगला नगरी के छत्रपलास चैत्य में पधारे। उस समय श्रावस्ती के समीप एक मठ में गर्दभालि शिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। वह वैदिक साहित्य का पारंगत विद्वान् था। तथा तत्त्वान्वेषी एवं जिज्ञासु तपस्वी भी। सर्वप्रथम उसकी भेंट महावीर के शिष्य इन्द्रभूति गौतम से हुई। उन दोनों में अनेक विषयों में विचार-विमर्श हुआ। गौतम की विद्वत्ता से प्रभावित होकर स्कन्दक महावीर के दर्शन करने चला आया। उनके अलौकिक दर्शन-मात्र से स्कन्दक का हृदय प्रसन्नता से भर उठा। महावीर ने उसे शंका समाधान करने की अनुमति दी तो उसने द्रव्य के स्वरूप एवं विस्तार आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछे। उनके समुचित उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने महावीर से पूर्णतया श्रमण-धर्म को सुना एवं उनके पास दीक्षा ग्रहण करली।'

इस प्रकार भगवान महावीर की देशना का प्रभाव सर्वत्र विस्तृत होता जा रहा था। अन्य मत-मतान्तरों के साधु, गृहस्थ एवं शासक अपने-अपने मतों की अपूर्णता समझकर महावीर के धर्म को स्वीकार करते चले जा रहे थे। महावीर की देशना से अज्ञान, अधर्म, अन्याय और पाखण्ड के झण्डे उखड़ रहे थे। आत्मस्वातन्त्र्य की भावना ने लोगों के मनोबल को बढ़ा दिया था। अनेकान्त ने लोगों के वैषम्य को दूर कर दिया था। स्वस्थ्य चिन्तन की परम्परा सुदृढ़ हो रही थी। शास्त्रार्थ एवं परम्परागत मतभेद तिरोहित हो रहे थे। इस प्रकार महावीर ने जो ज्ञान बड़े श्रम और साधना से उपलब्ध किया था, उससे जनमानस लाभान्वित होने लगा था।

००

१६. करुणा का विस्तार

भगवान महावीर के तीर्थङ्कर जीवन की कथा सुनते हुए शिल्पीसमुदाय को असीम आनन्द की प्राप्ति हो रही थी। उससे अधिक सार्थक हो रहे थे आचार्य कश्यप कथा सुनाते हुए। महावीर ने जनकल्याण के लिए किन-किन स्थानों का भ्रमण किया, किन-किन व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान की तथा कितने विभिन्न मतों के अनुयायियों ने श्रमण-धर्म स्वीकार किया आदि सबकी कथा आचार्य कश्यप ने विस्तारपूर्वक अपने शिष्यों को सुनायी। मेधावी शिष्यों की जिज्ञासाओं का भी उन्होंने समाधान किया। एक दिन प्रातः जब शिल्पीसंघ पुनः गुहाद्वार पर चातक-सा प्रतीक्षित बैठ गया तो आचार्य कश्यप की स्वाति नक्षत्र की बूंदों जैसी वाणी स्वतः झरने लगी।

'कलाकार बन्धुओ, भगवान महावीर की साधना का सत्ताईसवां वर्ष अनेक घटनाओं से पूर्ण है। गोशालक से पुनः भेंट, उसके द्वारा दो मुनियों पर तेजोलेश्या का प्रयोग, जामालि से प्रश्नोत्तर तथा भगवान महावीर की बीमारी आदि महत्वपूर्ण घटनाएं इसी वर्ष में हुई थीं। मैं उन सबके विस्तार में नहीं जाना चाहता, किन्तु यह जरूर कहना चाहूंगा, इन सब घटनाओं से महावीर के व्यक्तित्व का कौन-सा पक्ष उजागर होता है। उनकी करुणा की परिधि कितनी विस्तृत है? इत्यादि।'

'मिथिला में चातुर्मास्य समाप्त कर महावीर ने वैशाली होते हुए श्रावस्ती की तरफ विहार किया। श्रावस्ती में पहुंचकर वे कोष्ठक नामक चैत्य में ठहरे। उन दिनों मक्खलिपुत्र गोशालक भी श्रावस्ती में था। महावीर से अलग होने के बाद वह स्वयं को तीर्थङ्कर मानता हुआ इस प्रदेश में विचरण कर रहा था। श्रावस्ती में 'हालाहला' कुम्हारिन और 'अयपुल' नामक गाथापति उसके परमभक्त थे। वह हालाहला की भाण्डशाला में ही ठहरा हुआ था।'

महावीर के वहां पहुंचने पर श्रावस्ती के मार्गों में यह चर्चा जोरों से चलने लगी कि एक समय में एक ही नगर में दो तीर्थङ्करों का विचरण हो रहा है। पता नहीं सर्वज्ञ कौन है? इन्द्रभूति गौतम ने इस सम्बन्ध में जब महावीर से पूछा तो उन्होंने कहा—'गौतम, गोशालक न सर्वज्ञ है, न तीर्थङ्कर। वह तेजोलेश्या का धारक और महानैमित्तक है, जिसके बल पर वह लोगों पर प्रभाव जमाये हुए है। कानों-कान होती हुई यह बात गोशालक को ज्ञात हुई। गोशालक इसका प्रतिवाद करने के लिए महावीर के पास जा पहुंचा।

महावीर को लक्ष्य करके उसने कहा 'भगवन्, मैं वह गोशालक नहीं हूं, जिसने आपसे दीक्षा ली थी। मैं एक भिन्न आत्मा हूं और अभी तक अनेक जन्म धारण कर लिये है। मैंने अपना ज्ञान स्वयं अर्जित किया है तथा मैं सब कुछ जानने और करने में समर्थ हूं। अतः आपको मेरे सम्बन्ध में कुछ भी प्रलाप नहीं करना चाहिए।'

महावीर ने शान्त भाव से कहा—'गोशालक, तुम वही हो। भले कुछ ऋद्धियां तुमने प्राप्त करली है। किन्तु तुम सर्वज्ञ नहीं हो और न तीर्थङ्कर ही। अतः तुम्हें आत्मगोपन नहीं करना चाहिए।'

इन वचनों को सुनकर गोशालक का क्रोध भड़क उठा। वह प्रलाप करता हुआ बोला—'काश्यप! अब तुम अति कर रहे हो। समझलो मेरे द्वारा तुम्हारा विनाशकाल आ गया है।'

गोशालक के इन अपमानजनक बचनों को सुनकर महावीर के एक विनीत शिष्य 'सर्वानुभूति' ने गोशालक को समझाया कि ये तुम्हारे गुरु रहे हैं। इनके प्रति तुम्हें इतने कठोर शब्द नहीं कहना चाहिए। सर्वानुभूति की इस हित शिक्षा ने गोशालक की क्रोधाग्नि को भड़का दिया। उसने अपनी तेजोलेश्या को एकत्र करके सर्वानुभूति मुनि पर छोड़ दिया। मुनि का शरीर वहीं जल कर भस्म हो गया। उसने देवगति प्राप्त की।

गोशालक पुनः महावीर को प्रताड़ित करने लगा। यह देख 'सुनक्षत्र' नामक मुनि ने उसे रोकने का प्रयत्न किया। समझाया। गोशालक ने उस मुनि के ऊपर भी तेजोलेश्या छोड़ दी। सुनक्षत्र क्षणभर में प्राणमुक्त होकर देवलोक सिधार गया।

निरपराध दो मुनियों के बलिदान से भी गोशालक की क्रोधज्वाला शांत नहीं हुई। महावीर ने जब उसे समझाना चाहा तो उसने पुनः अपनी तेजो-लेश्या को महावीर पर छोड़ दिया। किंतु तीर्थंकर का शरीर होने के कारण वह लेश्या वापिस लौटकर गोशालक के शरीर में ही प्रविष्ट कर गयी। इससे उसका शरीर दग्ध होने लगा। किन्तु जोश में उसने कहा कि मेरी लेश्या महावीर को छूकर लौटी है अतः वह छह महीनों के भीतर ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। जबकि महावीर ने कहा 'गोशालक, मैं तो अभी सोलह वर्ष तक धर्मोपदेश देता हुआ विचरण करूंगा, किन्तु तुम्हारी सात दिन के भीतर ही मृत्यु हो जाएगी। तुम्हें अपने कार्य के लिए प्रायश्चित कर लेना चाहिए।'

महावीर और गोशालक का यह प्रसंग सारी श्रावस्ती में फैल गया। लोग आशंका करने लगे कि देखो अब क्या होता है? किन्तु लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब सातवें दिन गोशालक अनेक कष्टों को झेलता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके साथ ही आजीविक सम्प्रदाय भी निस्तेज हो गया। इस घटना से महावीर की सर्वज्ञता एवं सहिष्णुता का प्रचार सर्वत्र होने लगा।

'आचार्यप्रवर! घटना बड़ी ही मार्मिक सुनायी आपने। सुना जाता है कि महावीर जितने सर्वज्ञ थे, उतने ही अनन्तवीर्य से युक्त भी। पूर्ण सामर्थ्यवान। करुणा भी उनकी असीम थी जीवों के प्रति। फिर गुरुदेव! उन्होंने अपने ही शिष्यों को अपने ही समक्ष क्यों जल जाने दिया? जबकि उन्होंने एक बार गोशालक को भी तेजोलेश्या से बचाया था।'

'तुम्हारी शंका समाचीन है, श्रीकण्ठ! इसके उत्तर के लिए हमें इस कथानक की गहरायी में उतरना पड़ेगा। महावीर ने जब साधनाकाल में गोशालक को बचाया था वह श्रद्धा से भरा हुआ था। सत्य जानने का उत्सुक था इसीलिए जिज्ञासा कर रहा था। हो सकता है उस समय उसके चित्त की ऐसी दशा रही हो, जो आत्मोपलब्धि के मार्ग में काम आयेगी। अतः महावीर ने उसे बचा लिया। आत्मकल्याण के मार्ग में सहायक होना ही उनकी करुणा है, जिसकी कोई शर्त नहीं होती कि आगे चलकर वह व्यक्ति कैसा होगा। महावीर प्रत्येक क्षण की चेतना के प्रति अपनी करुणा प्रगट करते हैं।'

यही स्थिति इन दो मुनियों के समय हुई। हो सकता है कि प्रथम मुनि हमेशा विनयी और शान्त रहा हो। किन्तु जब गोशालक ने क्रोध किया, अपना अहंकार दिखाया तो सर्वानुभूति मुनि का भी अहंकार उपस्थित हो गया हो कि मैं अपने आचार्य को बचा सकता हूँ। हो सकता है, क्षण भर के लिए उसके मन में यह बात आ गयी हो कि भगवान महावीर को बचाकर मैं अपूर्व यश का भागी बन जाऊंगा। महावीर तो प्रत्येक क्षण की खबर रखते हैं। अतः जब उन्हें दिखा होगा कि यह गोशालक और मेरे मुनि की लड़ाई नहीं है, अपितु दो अहंकारों और आकांक्षाओं का संघर्ष है तो उसके लिए उनकी करुणा जाग्रत न हो सकी होगी। क्योंकि ऐसी अहंकारी और आकांक्षामय चित्त मे उन्हें आत्मकल्याण की कोई सम्भावना दृष्टिगोचर नहीं हुई होगी।

दूसरी बात यह है कि हमें दिखाई पड़ रहा है कि यदि महावीर उन मुनियों को बचा लेते तो वे जिन्दा रह जाते। हम इससे अधिक देख भी नहीं सकते। किन्तु हो सकता है कि महावीर यह भी जान गए हों कि इन मुनियों की आयु अब चुक गई है। गोशालक मात्र निमित्त बन रहा है। अतः उन्हें बचाना अब निरर्थक है। महावीर का हर प्रयत्न सार्थकता की ओर ही रहा है। अतः उनकी सबके लिए समान करुणा के विषय में शंका की गुंजाइश नहीं लगती। किन्तु ऐसे शान्त-द्रष्टा का कार्य सर्वज्ञ महावीर ही कर सकते हैं। गृहस्थ अथवा मुनि के लिए ऐसी स्थिति में कुछ और ही कर्तव्य होता है।

'साधनाकाल के इतने वर्षों में महावीर की बीमारी का प्रथम उल्लेख इस वर्ष के विचरण में प्राप्त होता है। कहा जाता है कि गोशालक की तेजोलेश्या के प्रभाव से महावीर को छह माह तक पित्तज्वर से पीड़ित रहना पड़ा। उन्होंने जब कोई औषधि नहीं ली तब उनका एक शिष्य 'सिंह' उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत चिंतित हो गया। उसकी चिंता-निवारण के लिए उसके आग्रह पर महावीर ने मेंढिका ग्राम की गाथापतिनी रेवती के यहाँ से औषधि मँगवाकर उससे स्वास्थ्य लाभ किया। भगवान महावीर की नीरोगता से सभी परम सन्तुष्ट हुए। बीमारी की यह घटना अनेक तथ्यों से मिलकर बनी है। महावीर की सहनशीलता एक नैमित्तिक की भविष्यवाणी की सत्यता,

शिष्यों के अपने गुरु के प्रति सेवाभाव, साधु के लिए गृहस्थों की उपयोगिता आदि अनेक तथ्य प्रतीकों के माध्यम से उजागर हुए हैं। अन्यथा आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को सूक्ष्मता से देखने वाले महावीर के लिए इस प्रकार की व्याधियां कोई अर्थ नहीं रखतीं। किन्तु उनके श्रद्धालु अनुयायियों के लिए इनकी अपनी सार्थकता है।'

••

१७. परम्परा और क्रान्ति की भेंट

'भगवान महावीर की देशना का अपूर्व प्रभाव तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों एवं विद्वानों पर पड़ रहा था। अन्य मत-मतान्तरों का विसर्जन श्रमणधर्म में आकर तो हो ही रहा था, किन्तु श्रमणधर्म की जो प्राचीन परम्परा थी—पार्श्वनाथ के धर्म की, वह भी महावीर के सब एवं धार्मिक-विचारों से प्रभावित होने लगी थी। यद्यपि पार्श्वनाथ की परम्परा और महावीर के शिष्यों का मिलन प्रायः होता रहता था, किन्तु महावीर की साधना के अट्ठाईसवें वर्ष में आचार्य केशी और गौतम का जो विचार-विमर्श हुआ वह इन दोनों परम्पराओं की विशेषताओं को जानने के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।'

जब भगवान महावीर कौशल भूमि में विहार कर रहे थे, उसी समय इन्द्रभूति गौतम अपने शिष्यों के साथ श्रावस्ती की ओर विहार कर गये। उन दिनों पार्श्वपत्य केशीकुमार श्रमण भी श्रावस्ती में थे। दोनों के शिष्य-समुदाय में जब इस बात की चर्चा होने लगी कि श्रमणधर्म के अनुयायी होने पर भी हम लोगों में भिन्नता क्यों है कई बातों को लेकर? तब इन दोनों आचार्यों ने मिल-बैठकर कुछ समाधान निकालने का निश्चय किया। इन्द्रभूति गौतम आचार्य केशी के निवासस्थान पर आये। केशी ने उनका समुचित आदर किया एवं वार्तालाप करने की अनुमति चाही। गौतम इसके लिए सहर्ष तैयार हो गये। इन दोनों में श्रमणधर्म के विभिन्न सिद्धान्तों, चातुर्याम एवं पांच-महाव्रतिक धर्म, चेलक एवं अचेलक आचरण, तपश्चर्या, आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा हुई। आचार्य केशी ने पूछा और इन्द्रभूति गौतम ने उत्तर दिये। केशी उनसे बहुत प्रभावित हुए। कहा जाता है कि केशी ने महावीर के पंचमहाव्रतरूपी धर्म को स्वीकार कर लिया था, किन्तु वस्त्र पहिनने आदि के सम्बन्ध में उन्होंने देशकाल एवं साधु के सामर्थ्य व इच्छा को ही प्रधानता दी थी। सम्भवतः आगे चलकर इन आचार्यों के विचार-विमर्श

के आधार पर श्रमणधर्म दो परम्पराओं में विभक्त हो गया था।

जैनधर्म के इतिहास में इस सम्मेलन का अपना महत्त्व है। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट होता है कि स्वयं महावीर की उपस्थिति में व्यक्ति को अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने की सुविधा प्राप्त थी। आत्मा स्वतन्त्र चेता है अतः उसके अनुभवों की अभिव्यक्ति भी दूसरी आत्मा से भिन्न होगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः महावीर अनुकरण के पक्षपाती नहीं थे। चिन्तन को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति दी जा सके यही उनकी जीवन की साधना थी। क्रान्ति थी।'

'इस वर्ष के भ्रमण में महावीर ने हस्तिनापुर के राजा शिव को, जो दिशा-प्रोक्षक तापस हो गये थे, उनके मिथ्यात्व से अवगत कराया तथा तत्त्व-दर्शन का सम्यक्रूपेण निरूपण किया, जिससे वे बहुत प्रभावित हुए। अन्त में उन्होंने अपने पूर्व मत को छोड़कर श्रमणधर्म स्वीकार किया एवं महावीर के समक्ष ही निर्वाण को प्राप्त हो गये।'

'भगवान महावीर ने अपनी साधना के २९वें वर्ष में श्रमणधर्म के अन्य सिद्धान्तों का उपदेश दिया तथा दूसरे मतों की समीक्षा करते हुए उनकी निस्सारता प्रदर्शित की। ३०वें वर्ष में जब वे वाणिज्य ग्राम में पधारे तो उन्होंने वैदिक पंडित सोमिल की शंकाओं का समाधान कर उसे श्रमणधर्म में दीक्षित किया। ३१वें वर्ष में उन्होंने काम्पिल्य नगर से गुजरते हुए श्रमणोपासक 'अम्भड' के सम्बन्ध में गौतम को बताया कि यह व्यक्ति परिव्राजक का बाह्यवेश रखते हुए भी पूर्णरूप से जैन श्रावकों के व्रतों का पालन करता है। तथा इसीके फलस्वरूप इसे निर्वाण की प्राप्ति भी होगी। ३२वें वर्ष में महावीर ने पार्श्वपत्य मुनि गांगेय के प्रश्नों का समाधान किया। ३३वें वर्ष में उन्होंने गौतम को अन्य तीर्थिकों की मान्यताओं से परिचित कराया एवं उनकी अप्रामाणिकता और निष्फलता को प्रतिपादित किया।'

इस प्रकार आचार्य कश्यप भगवान महावीर के प्रत्येक वर्षावास के कार्यों एवं साधना की कथा प्रतिदिन शिल्पी-समुदाय को सुनाते रहे। साधना के ४२ वर्षों में महावीर ने जितना भ्रमण किया, जितने लोगों को दीक्षित किया एवं प्राणीमात्र के कल्याण के लिए जो कुछ भी उन्होंने किया वह सब आचार्य

कश्यप ऐसे सुनाते रहे जैसे इन सब घटनाओं के वे प्रत्यक्षदर्शी रहे हों। हो सकता है, किसी एक परम्परा को कोई घटना याद हो, दूसरी परम्परा को कोई अन्य प्रसंग। किन्तु आचार्य कश्यप उन सबको सुनाकर उनके भीतर छिपे हार्द को स्पष्ट करते रहे ताकि महावीर का व्यक्तित्व किसी भी कौण से अनदेखा, अनसमझा न रह जाय। वास्तव में उन्होंने महावीर के अनेकान्त के सिद्धान्त को स्वयं उनकी जीवनी पर ही घटित कर दिखाया। शिल्पी-समुदाय महावीर की साधना के १२ वर्ष एवं तीर्थङ्कर जीवन के ३० वर्ष कुल ब्यालीस वर्षों की कथा सुनकर अविर्भूत हो गया उनके व्यक्तित्व, साधना और आत्मोपलब्धि के प्रति। उन्हें ऐसा लगने लगा कि महावीर के ये प्रसंग, भंगिमाएं एवं अलौकिक गुण उदयगिरि की इस गुफा के चारों ओर मंडराने लगे हैं। उन्हें पकड़ने भर की देर है, तब गुहा की ये चित्तभित्तियां अधूरी न रहेंगी। व्यक्ति के मानस भी विभिन्न अनुभूतिरूपी रंग-विरंगों से आपूरित हो जायेंगे।

●●

१८. महापरिनिर्वाण

'आयुष्मति कनकप्रभा ! अब तक की कथा मैं आप सबको सहर्ष सुनाता रहा। प्रफुल्ल मन से। किन्तु भगवान महावीर के जीवन के अन्तिम वर्ष की यह कथा कह भी पाऊंगा या नहीं, कुछ भरोसा नहीं है। उनके परिनिर्वाण का प्रसंग आते ही मेरी आंखें भर जाती हैं। इतने वर्षों बाद भी मुझे लगने लगता है वे मेरे समक्ष ही संसार से ऊर्ध्वगमन कर रहे हैं। मैं लुटा-लुटा-सा उस परमज्योति को जाते हुए देख रहा हूं। किन्तु भद्र ! आज मैं ममता-मोह को पास नहीं आने दूंगा। अपनी भावुकता किनारे ही रखूंगा। क्योंकि यदि मैंने महावीर के परिनिर्वाण का प्रसंग आपको नहीं सुनाया तो आपकी कला को पूर्णता कैसे मिलेगी ? गुहा की भीतरी दीवार पर जिस चित्रभूमि को वृद्ध कलाकार पूर्णकलश और कनकप्रभा ने सबसे अधिक परिश्रम से तैयार किया है, वह सूनी की सूनी न रह जायेगी ? फ़िर कौन भरेगा उसमें रंग ? अतः आप सब आज गुफा के उसी स्थान पर चलकर बैठें, जहां से मैंने कथा प्रारम्भ की थी।'

उदयगिरि की वह गुहा एवं उसमें निर्मित चित्रभूमियां आज सार्थक होने को थीं। समस्त शिल्पी-समुदाय शान्त हो वहां बैठा था। आचार्य कश्यप शून्य में निहारते हुए कथा की पूर्णाहुति करने की शक्ति संजो रहे थे। क्षणभर बाद उनका चिरपरिचित स्वर गूंज उठा—

'महावीर अन्तिम चातुर्मास पावा नगरी में व्यतीत करने के लिए वहां के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पधारे और वहीं वर्षाकाल में रहने की स्थिरता की। इन चार महीनों में आपके पास दर्शनार्थियों का तांता लग गया। हर प्राणी आपके दर्शन कर अपना जीवन सफल कर लेना चाहता था। महावीर ने इस वर्षावास में श्रमणधर्म की विषद व्याख्या प्रस्तुत की। यद्यपि आपने इन तीस वर्षों में लाखों प्राणियों को श्रमणधर्म का उपदेश दिया था।

प्रत्येक दार्शनिक गुत्थी को आपने सुलझाया था। दृष्टान्तों से तत्वमीमांसा को प्रस्तुत किया था। किन्तु इस बार आपने समस्त तत्वज्ञान का समापन इस प्रकार किया कि ज्ञानियों ने निधियां पा लीं। अज्ञानियों की आंखें खुल गयीं।

भगवान महावीर ने कहा कि 'जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड़, ये दो विश्व के मूल तत्त्व हैं, जो आदितः परस्पर सम्बद्ध पाये जाते हैं। चेतन की मन, वचन व कायात्मक क्रियाओं द्वारा इस जड़-चेतन सम्बन्ध की परम्परा प्रचलित रहती है। इसे ही कर्माश्रव या कर्मबन्ध कहते हैं। यमों, नियमों आदि के पालन द्वारा इस कर्माश्रव की परम्परा को रोका जा सकता है तथा संयम और तप द्वारा प्राचीन कर्मबन्ध को नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार चेतन का जड़ से सर्वथा मुक्त होकर, अपना अनन्तज्ञान-दर्शनात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए, जिससे इस जन्म-मृत्यु की परम्परा का विच्छेद होकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो सके। इस लक्ष्य प्राप्ति की यात्रा कोई भी प्राणि, कहीं से भी प्रारम्भ कर सकता है तथा अपने पुरुषार्थ एव पूर्णजागृति के माध्यम से गन्तव्य तक पहुंच सकता है।'

'महावीर की इस सारभूत देशना ने उस समय उपस्थित चेतनाओं में नये प्राण फूंक दिये। यह उपदेश अखण्ड रूप से कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी तक चलता रहा। महावीर इस प्रकार की प्रशान्त और गम्भीर मुद्रा में बोल रहे थे कि देखने वालों को विश्वास नहीं आ रहा था कि आज इनका निर्वाण होने वाला है। महावीर की मुखमुद्रा और निर्वाण पर्यायवाची जैसे लगते थे। और रात्रि के अन्तिम प्रहर में श्रमण भगवान महावीर का परिनिर्वाण हो गया। वे क्षणभर में सब कर्मों से मुक्त हो गए।'

'भद्र चित्रांगद! आत्मोपलब्धि का वह अपूर्व क्षण था। श्रमणधर्म के प्रस्तुतिकरण का सर्वोच्च शिखर। एक परमज्योति का उर्ध्वगमन हुआ था, किन्तु कई ज्योतियों ने जन्म ले लिया था। उस समय वहां नौ लिच्छवी, नौ मल्ल और अठारह काशी-कौशल आदि के गणराजा-महाराजा उपस्थित थे। पुण्यशाली थीं वे विभूतियां, जो उस मानवता के पुजारी का सानिध्य पा सकीं। जैसे ही उन्हें लगा कि संसार से एक भावात्मक ज्योति उठ गई तो उन्होंने निश्चय किया—'आज के दिन हम द्रव्यात्मक प्रकाश जगमगायेंगे।' क्षणभर

बाद वह पावा नगरी दीपों से जगमगा उठी। ऐसा लग रहा था उस परम-ज्योति से गांव-गांव, नगर-नगर तथा धरती का कण-कण जगमगा उठा है। तबसे कार्तिक अमावस्या को दीपावली मनाने का क्रम चल पड़ा।'

'भद्र! अपने गुरुकुल का दीप-स्तम्भ भी तो इसीलिए आप इतने उत्साह से प्रज्वलित करते रहे हैं। इस बार आपने अपनी जिज्ञासाओं के दीप जलाकर उसे सार्थक कर दिया है। दीपावली पर्व ही ऐसा है। प्रत्येक दीप उस महान् विभूति की साधना की कथा कहता है। दिया का आकार सम्पूर्ण समवसरण का प्रतीक है और उस महावीर की देशना का प्रतीक है—नन्हीं-सी दीप-शिखा, जो प्रत्येक अमावस्या की रात्रि को पूनम की चांदनी में बदल देने का निमन्त्रण देती है। धन्य है उस त्रिशलापुत्र महावीर की जीवनगाथा, जिसने जनमानस के आंगन को विवेक के दियों से जगमगा दिया है। अब नहीं रहेगी कोई डगर अंधेरी और न ही सूनी रहेंगी इस गुहा की ये चित्रभित्तियां। उस परम-ज्योति को मेरे अनन्त प्रणाम।'

कथा में विराम आते ही शिल्पी-समुदाय उस पावा नगरी के प्रांगण से गुहा मे लौट आया। देखा—सामने आचार्य कश्यप शान्त होकर बैठे हैं। उनके नयनों में तैर रहे हैं मानसरोवर के हंसनुमा मोती। किसी को सुध नहीं है कि अब आगे क्या करना है, क्या कहना है? क्षणभर बाद आचार्य कश्यप ने ही मौन तोड़ा—

'कलाकार बन्धुओ! आपने बड़ी धीरजता और शान्त मन से मेरी बात सुनी। कितने आप श्रावक हुए हैं, यह आपकी कला बतायेगी। महावीर की जीवन-कथा में मेरा इतना ही प्रवेश था। रह गयी बात उनके शिष्यों की, उपदेशों की तथा इन बदलती हुई परिस्थितियों में उनकी अनुभूतियों की सार्थकता की, सो उसे भी मैं कहूंगा। इसलिए नहीं कि मुझे भावी समाज का मार्ग-दर्शन करना है, बल्कि इसलिए कि जब आप अपनी कला को साकार करें तो वह मात्र तथ्य की संवाहक न हो, अपितु उससे सत्य भी उजागर हो। मेरी दृष्टि में कला की यही सार्थकता है। आप सब अब कल प्रातःकाल यहीं पर पुनः उपस्थित हों, तब तक के लिए हम सब विदा लेते हैं।'

●●

१६. शिष्य-परम्परा

सूर्य की किरणों के साथ ही शिल्पी-संघ ने गुहा में प्रवेश किया। आश्चर्य हुआ उन्हें यह देखकर कि आचार्य कश्यप पहले से ही वहां व्यासपीठ पर विराजमान हैं। उनकी बोझिल पलकों से स्पष्ट हो रहा था कि वे रात्रि भर जागरण करते रहे हैं। सम्भवतः इसलिए कि भगवान महावीर के निर्वाण का क्षण कहीं उनकी दृष्टि से चूक न जाय। आगे की कथा वे वहां स्थित होकर कहना चाहते थे, जहां से महावीर ने महाप्रयाण किया था। और उनकी थाती शिष्यपरम्परा ने ग्रहण की थी। सुश्री कनकप्रभा के आसन ग्रहण करते ही आचार्य ने कथा का सूत्र पकड़ लिया—

'भद्र! अभी तक हम भगवान महावीर की साक्षात् उपस्थिति में उनके जीवन का दर्शन कर रहे थे। अब हम उनके ज्ञान एवं चेतना की साक्षी में आगे बढ़ेंगे। आपको ज्ञात है कि महावीर के पूर्व श्रमणधर्म की प्राचीन परम्परा थी। निश्चित ही उसके आचार्य भी रहे होंगे। किन्तु महावीर ने अपना गुरु किसी को नहीं बनाया था। जो व्यक्ति आत्मोपलब्धि के लिए इतनी स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन का पक्षपाती रहा हो, निश्चित रूप से उसने दूसरों के लिए भी आत्मदर्शन के मार्ग में परापेक्षी बनने को नहीं कहा होगा। अर्थात् जिसका कोई गुरु नहीं था, वह अपने शिष्य बनाने में भी अधिक उत्सुक नहीं रहा होगा। क्योंकि उसे शिष्यों द्वारा अपनी किसी आकांक्षा की पूर्त्ति करना शेष नहीं रह गया था। वह अपने जीवन में स्वयं इतनी जागृति कर गया था, जिससे आत्मकल्याण की ओर अग्रसित आत्माएं अपना मार्ग स्वयं देख सकती थीं।

दूसरी बात, महावीर को जिसने अपना गुरु माना होगा उसकी दृष्टि उनके कार्यों का अनुकरण करने की नहीं रही होगी। महावीर की आत्मा से जैसे ही किसी आत्मदर्शनाभिलाषी का संवाद हुआ होगा, वह समस्त द्वन्दों के

विसर्जन में लय गया होगा। उसे महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार करने की बजाय, महावीर हो जाने में अधिक आनन्द दिखा होगा। अतः यदि हम महावीर के शिष्यों की वास्तविक गणना करना चाहें तो सम्भव नहीं है। क्योंकि इतिहास में इसका कोई लेखा-जोखा नहीं है कि महावीर की परम-ज्योति से कितनी आत्माएं प्रज्वलित होकर शान्त हो गयी हैं। आवागमन से मुक्त।

लेकिन फिर भी महावीर की शिष्यपरम्परा का शास्त्रों में पूरा इतिहास है। बहुतों का मात्र नामोल्लेख है और कई के जीवनवृत्त का भी परिचय मिलता है, ऐसी शिष्य-परम्परा होने का भी कारण है। प्रत्येक महापुरुष के अनुयायी दो प्रकार के होते हैं—श्रोता और श्रावक। एक को आराध्य देव के वचनों की पकड़ होती है। उनके माध्यम से वह आत्मकल्याण के मार्ग तक पहुंचता है। दूसरे को आराध्य की चेतना का स्पन्दन पकड़ में आता है। वह सीधे आत्मा की निकटता का अनुभव करने लगता है। ऐसे लोगों को अन्त-र्मुहूर्त में परमज्ञान उपलब्ध हो जाता है। अतः प्रथम प्रकार के अनुयायियों, श्रोताओं, के लिए शास्त्र बनते हैं, जिनकी पूरी व्यवस्था के लिए एक शिष्य-परम्परा गतिशील होती है। भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद भी यही हुआ है।

इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लें। जिस प्रकार अनुयायी दो प्रकार के हो सकते हैं, उसी प्रकार आचार्य भी। एक वे जो चुपचाप आत्मोपलब्धि एवं ज्ञान की साधना में लग जाते हैं तथा क्रमशः मुक्त हो जाते हैं। दूसरे वे, जो ज्ञान उपलब्ध करने में जितने समर्थ होते हैं, उतने ही उसको अभिव्यक्ति देने में, अतः ऐसे आचार्यों द्वारा महापुरुष की वाणी सुरक्षित रखी जाती है। उसकी व्याख्या की जाती है। और यही आचार्य इतिहास के विषय बनपाते हैं। शिष्य-परम्परा के संवाहक। जैन आगम ग्रन्थों में महावीर के ऐसे शिष्यों व आचार्यों का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है।

'*भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् श्रमणसंघ के नायकत्व का भार* क्रमशः उनके तीन शिष्यों—गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ने संभाला। इनका काल क्रमशः १२,१२ एवं ३८ वर्ष, कुल ६२ वर्ष पाया जाता है। इनको

केवली भी कहा गया है। किन्तु इनके पश्चात्कालीन आचार्य-परम्पराएं, दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में पृथक्-पृथक् पायी जाती हैं। अतः यहां से सम्प्रदाय भेद के बीज श्रमणसंघ में प्रारम्भ हो जाते हैं, जो किसी भी गतिशील धर्म के लिए स्वाभाविक हैं।

दिगम्बर-परम्परा में उपर्युक्त तीन केवली—गौतम, सुधर्मा एवं जम्बू—, विष्णु आदि पांच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्वी, नक्षत्र आदि पांच एकादश अंगधारी तथा सुभद्र आदि चार एकांगधारी आचार्यों की वंशावली मिलती है। इन समस्त अट्ठाईस आचार्यों का काल ६८३ वर्ष निर्दिष्ट पाया जाता है। अतः महावीर के निर्वाण के बाद लगभग सात सौ वर्षों तक इन आचार्यों ने महावीर की वाणी का प्रचार एवं प्रसार किया। इनके विशेषणों से स्पष्ट होता है कि क्रमशः इनके ज्ञान एवं स्मरणशक्ति में देशकाल के प्रभाव से ह्रास होता गया है।

इन आचार्यों के बाद किसी समय अर्हद्‌बलि आचार्य हुए। उन्होंने एक मुनि सम्मेलन किया तथा नंदि आदि नामों से अनेक संघ स्थापित किये। बाद में दक्षिण भारत में अनेक जैन आचार्यों के संघ स्थापित होते रहे एवं उनके द्वारा जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता रहा। इन आचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्द, उमास्वामि एवं अकलंक आदि प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, जिन्होंने न केवल जैन सिद्धान्त शास्त्रों की रचना की है, अपितु अन्य धर्मों के आचार्यों से शास्त्रार्थ कर श्रमण-धर्म की श्रेष्ठता भी प्रतिपादित की है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में महावीर की शिष्य-परम्परा का प्रारम्भ महावीर-कालीन ग्यारह गणधरों से होता है। इनके सम्बन्ध में 'कल्पसूत्र' से विशेष जानकारी मिलती है। इनके शिष्यों की संख्या लगभग चार हजार बतायी जाती है। इन ग्यारह गणधरों में से नौ का निर्वाण महावीर के जीवनकाल में ही हो गया था। इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा महावीर के पश्चात् भी जीवित रहे। इन ग्यारह गणधरों का महावीर की शिष्य-परम्परा में विशेष महत्व है। इनके नाम हैं—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्य, सुधर्म, मंडित मौर्य, मौर्य, आकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य एवं प्रभास। इनका जीवन-वृत्त जैनागमों में उपलब्ध है। उसे संक्षेप में इस प्रकार जाना जा सकता है।

'ये सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और वेदान्त के पारगामी पण्डित थे। किन्तु महावीर के पास दीक्षित होकर सबने द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त किया अतः सब चतुर्दश पूर्वधारी और विशिष्टलब्धियों के ज्ञातक थे।'

'इन ग्यारह गणधरों में से आर्य सुधर्म की शिष्य-परम्परा ही आगे चली। सुधर्म से लेकर आर्य शाण्डिल्य तक तेतीस आचार्यों की गुरु-शिष्य-परम्परा स्थविरावली में प्राप्त होती है। छठे आचार्य आर्य यशोभद्र के दो शिष्य संभूति विजय और भद्रबाहु द्वारा दो भिन्न-भिन्न शिष्य-परम्पराएं चलीं थीं। सातवें स्थविर आर्य स्थूलभद्र के द्वारा भी श्वेताम्बर आचार्यों की परम्परा गतिशील हुई है। 'तेरासिय', कोशाम्बिक, उद्देहगण, भद्रयशीय कुल, श्रावस्तिका, सौराष्टिका, माध्यमिका, विद्याधरी शाखा आदि अनेक आचार्यों की शाखाएं थीं।

इन विविध शाखाओं व कुलों की स्थान व गोत्र आदि भेदों के अतिरिक्त अपनी-अपनी क्या विशेषता थी, इसका पूर्णतः पता लगाना मुश्किल है। इनके प्रत्येक के काल के सम्बन्ध में भी कोई विशेष निर्देश नहीं है। श्वेताम्बर-परम्परा में भी उमास्वामि को वही मान्यता प्राप्त है, जो दिगम्बर-परम्परा में। आचार्य सिद्धसेन इस परम्परा के प्रकाण्ड विद्वान् थे, जिन्होंने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर जैन दर्शन को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया है।

'महावीर के चतुर्विध संघ में साध्वीसंघ भी महत्वपूर्ण रहा है। किन्तु जिस प्रकार आचार्यों की नामावली व शाखाओं-उपशाखाओं का उल्लेख मिलता है, वैसा साध्वियों की शिष्या-परम्परा का वर्णन प्राप्त नहीं है। यद्यपि इनकी संख्या हमेशा संघ में साधुओं से अधिक रही है। परम्परा से सुना जाता है कि महावीर की शिष्याओं में सती चन्दनबाला प्रमुख थी, जिसके साथ छत्तीस हजार अन्य साध्वियां थीं तथा सुलसा, रेवती, जयन्ती आदि तीन लाख श्राविकाएँ भी दीक्षित थीं। इनमें से चन्दनबाला का प्रसंग मैंने पहले आपको संक्षेप में सुनाया था। उसकी सम्पूर्ण कथा भी सुनें।'

२०. साध्वी संघ-प्रमुखा

'चन्दनबाला चम्पा नगरी के महाराजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की प्राणदुलारी थी। माता-पिता द्वारा आपका नाम वसुमति रखा गया।

महाराजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के महाराजा शतानीक की किसी कारण से अनबन हो गई। शतानीक मन ही मन दधिवाहन से शत्रुता रखकर चम्पा नगरी पर आक्रमण करने की टोह में रहने लगा। शतानीक ने अप्रत्याशित रूप से चम्पा पर अचानक आक्रमण करने की अभिलाषा से अपने अनेक गुप्तचर चम्पा नगरी में नियुक्त किये। कुछ ही दिनों के पश्चात् शतानीक को अपने गुप्तचरों से ज्ञात हुआ कि चम्पा पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर आ गया है। एक रात्रि को शतानीक अपनी सेनाओं के साथ चम्पा जा पहुंचा और सूर्योदय से पूर्व ही उसने चम्पा नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

इस अचानक आक्रमण से चम्पा के नरेश और नागरिक सभी अवाक् रह गये। अपने आपको शत्रु के आकस्मिक आक्रमण का मुकाबला कर सकने की स्थिति में न पाकर दधिवाहन ने मन्त्रिपरिषद् की आपत्कालीन बैठक बुलाकर गुप्त मन्त्रणा की। अन्त में मंन्त्रियों के प्रबल अनुरोध पर दधिवाहन को गुप्त मार्ग से चम्पा को त्यागकर बीहड़ बनों की राह पकड़नी पड़ी।

शतानीक की सेनाओं ने अवसर पाकर यथेच्छ रूप से नगर को लूटा। महारानी धारिणी राजकुमारी वसुमति सहित शतानीक के एक सेनापति द्वारा पकड़ली गईं। वह उन दोनों को अपने रथ में डालकर कौशाम्बी की ओर द्रुत गति से लौट पड़ा। महारानी धारिणी के देवांगना तुल्य रूप लावण्य पर मुग्ध हो वह सेनापति राह में मिलने वाले अपने परिचित लोगों से कहने लगा—'इस लूट में इस त्रैलोक्य सुन्दरी को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया है। घर पहुंचते ही मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊंगा।'

इतना सुनते ही महारानी धारिणी क्रोध और घृणा से तिलमिला उठी।

महान् प्रतापी राजा की पुत्री और चम्पा के यशस्वी नरेश दधिवाहन की राजमहिषी को एक अकिंचन व्यक्ति के मुंह से इस प्रकार की बात सुनकर वज्र से भी भीषण आघात पहुंचा। अपने सतीत्व पर आंच आने की आशंका से धारिणी सिहर उठी। उसने अपनी पुत्री वसुमति को सब कुछ समझाकर अपना प्राणान्त कर लिया।

धारिणी के इस आकस्मिक अवसान से सेनापति को अपनी भूल पर आत्मग्लानि के साथ-साथ बड़ा दुःख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी कुलवधु को उसकी इच्छा के बिना अपना नहीं बनाया जा सकता। अपनी मां की इस आकस्मिक मृत्यु से भयभीत हो कहीं यह बालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे अतः उसने वसुमति को मृदु वचनों से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

राजकुमारी वसुमति को लेकर वह सेनापति कौशाम्बी पहुंचा और उसे विक्रय के लिए बाजार के चौराहे पर खड़ा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त होकर अपने घर की ओर लौटते हुए धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिए खड़ी बालिका को देखा। उसने कुसुम-सी सुकुमार बालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई बहुत बड़े कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से बिछुड गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सेनापति को मुंहमांगा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। धनावह श्रेष्ठी वसुमति को लेकर अपने घर पहुंचा।

धनावह ने बड़े दुलार से बालिका के माता-पिता एवं उसका नाम पूछा पर स्वाभिमानिनी वसुमति ने अपना नाम तक नहीं बताया। वह मौन ही रही। अन्त में लाचार होकर धनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा—'यह बालिका किसी श्रेष्ठ कुल की प्रतीत होती है। इसे अपनी ही पुत्री समझकर बड़े दुलार और प्यार से रखना।'

श्रेष्ठि पत्नी ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ में वसुमति को अपनी पुत्री के समान ही रखा। वसुमति श्रेष्ठि-परिवार में घुल-मिल गई। उसने मृदु सम्भाषण, व्यवहार एवं विनय आदि सद्गुणों से श्रेष्ठि-परिवार के हृदय में दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल

सुखद स्वभाव के कारण वसुमति उस श्रेष्ठि-परिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

चन्दना ने जब कुछ समय बाद यौवन में पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि बढ़कर उसकी पिण्डलियों से अठखेलियां करने लगीं। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठि-पत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्बल्य जग पड़ा। उसके अन्तर में कलुषित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा—'यह अलौकिक रूप लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीनकर गृह-स्वामिनी बन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते हैं। पर यदि उन्होंने कहीं इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अतः फूलने-फलने से पहले ही इस विष लता को मूलतः उखाड़ फेंकना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

दिन-प्रति-दिन मूला सेठानी के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई। वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिए हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप में चलकर धनावह बाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिए अपने सेवकों को पुकारा। पर संयोग-वश उस समय वहां कोई भी सेवक उपस्थित नहीं था। धूप से श्रान्त धनावह को खड़े देखकर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुंची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूड़ा खुल गया और उसकी केशराशि बिखर गई। चन्दना के बाल कहीं पानी में न भीग जायें इस दृष्टि से सहज सन्तति-वात्सल्य से प्रेरित हो धनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ से ऊपर उठाकर उसका जूड़ा बान्ध दिया।

मूला ने संयोगवश जब यह सब देखा तो उसने अपने संदेह को वास्तविकता का रूप दे डाला। उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोड़ी ही देर बाद जब श्रेष्ठि धनावह किसी कार्यवश दूसरे गांव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को बुलाकर चन्दना के मस्तक को मुंडित करवा दिया। मूला ने बड़ी निर्दयता से चन्दना को जी भरकर पीटा। तदनन्तर उसके हाथों

में हथकड़ी एवं पैरों में बेड़ी डालकर उसे एक भंवरे में बन्द कर दिया। और अपने दास-दासियों एवं कुटुम्ब के लोगों को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठि द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने चन्दना के सम्बन्ध में कुछ भी बता दिया तो वह उसका कोप-भाजन बनेगा।

चन्दना तीन दिन तक एक तलघर में भूखी प्यासी बन्द रही। तीसरे दिन जब धनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के संबंध में पूछताछ की। सेवकों को मौन देखकर धनावह को शंका हुई। उसने क्रुद्ध स्वर में चन्दना के सम्बन्ध में सच-सच बात बताने के लिए कड़क कर कहा—'तुम लोग मूक की तरह चुप क्यों हो, बताओ पुत्री चन्दना कहां है?'

इस पर एक वृद्धा दासी ने चन्दना की दुर्दशा से द्रवित हो साहस बटोर कर उसे सारा हाल कह सुनाया। तलघर के कपाट खोलकर ज्योंही धनावह ने चन्दना को उस दुर्दशा में देखा तो वह रो पड़ा। चन्दना के भूख और प्यास से मुर्झाये हुए मुख को देखकर वह रसोई घर की ओर लपका। उसे सूप में कुछ उड़द के बाकलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। वह उसी को उठाकर चन्दना के पास पहुंचा और सूप चन्दना के समक्ष रखते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोला—'पुत्री, अभी तुम इन उड़द के बाकलों से ही अपनी भूख की ज्वाला को कुछ शान्त करो, मैं अभी किसी लोहार को लेकर आता हूं।'

यह कहकर धनावह किसी लोहार की तलाश में तेजी से बाजार की ओर चला गया।

भूख से पीड़ित होते हुए भी चन्दना ने मन में विचार किया—'क्या मुझ हतभागिनी को इस अतिदयनीय विषम अवस्था में आज बिना अतिथि को खिलाये ही खाना पड़ेगा? कोई अतिथि आ जाता तो उसे खिलाकर फिर मैं खाती। किन्तु मेरे ऐसे भाग्य कहां?'

अपने इस दुर्भाग्य पर विचार करते-करते उसकी आंखों में अश्रुओं की अविरल धारा फूट पड़ी। उसने अतिथि की तलाश में द्वार की ओर देखा। सहसा उसने देखा कि कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा के समान दैदीप्यमान मुख-मण्डल वाले अति कमनीय और सुन्दर एक तपस्वी साधु उसकी ओर आ रहे

है। हर्षातिरेक से उसके शोकाश्रुओं का सागर क्षण भर में ही सूख गया। उसके मुखमण्डल पर शरदपूर्णिमा की चन्द्रिका से उद्वेलित समुद्र के समान हर्ष का सागर हिलोरें लेने लगा। चन्दना सहसा सूप को हाथ में लेकर उठी। बेड़ियों से जकड़े अपने एक पैर को बड़ी कठिनाई से देहली से बाहर निकाल कर उसने हर्ष-गद्‌गद स्वर में अपने अतिथि से प्रार्थना की—"प्रभो, यद्यपि ये उड़द के बाकले आपके खाने योग्य नहीं हैं फिर भी मुझ अबला पर अनुग्रह करके इन्हें ग्रहण कीजिए।'

'अपने अभिग्रह की पूर्ति में कुछ कमी देखकर वह अतिथि लौटने लगा। इससे अति दुखित हो चन्दना के मुख से सहसा ये शब्द निकल पड़े—'हाय रे दुर्दैव। इससे बढ़कर मेरा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि आंगन में आया हुआ कल्पतरु लौट रहा है।'

इस शोक के आघात से चन्दना की आंखों से पुनः अश्रुओं की धारा बह चली। अतिथि ने यह देखकर कि उनके अभिग्रह की सभी शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं, चन्दना के सम्मुख अपना करपात्र बढ़ा दिया। चन्दना ने हर्षविभोर होकर श्रद्धा से सूप में रक्खे उड़द के बाकलों का अतिथि को आहार दिया।

यह अतिथि और कोई नहीं, श्रमण भगवान महावीर ही थे। तत्क्षण 'महा दानं, महा दानं' के दिव्य घोष और देव दुन्दुभियों के स्वर से गगन गूंज उठा। गन्धोदक, पुष्प और दिव्य वस्त्रों की देवगण वर्षा करने लगे। चन्दना के दान की महिमा करते हुए देवों ने धनावह सेठ के घर स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की। सुगन्धित मन्द मधुर मलयानिल से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। यह अद्‌भुत दृश्य देखकर कौशाम्बी के सहस्त्रों नर-नारी वहां एकत्रित हो गए और चन्दना के भाग की सराहना करने लगे।

उस महान् दान के प्रभाव से तत्क्षण चन्दना के मुण्डित शीश पर पूर्ववत् लम्बी सुन्दर केशराशि पुनः उद्‌भुत हो गई। चन्दना के पैरों में पड़ी लोहे की बेड़ियां सोने के नुपूरों में और हाथों की हथकड़ियां कर-कंकणों के रूप में परिणत हो गईं। देवियों ने उसे दिव्य आभूषणों से अलंकृत किया। सूर्य के समान चमचमाती हुई मणियों से जड़े मुकुट को धारण किए हुए स्वयं देवेन्द्र वहां उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान को वन्दन करने के पश्चात्

चंदना का अभिनन्दन किया।

कौशाम्बीपति भी महारानी मृगावती एवं पुरजन-परिजन आदि के साथ धनवाह के घर आ पहुंचे। उनके साथ बंदी के रूप में आए हुए दधिवाहन के अंगरक्षक ने चन्दना को देखते ही पहचान लिया और वह चन्दना के पैरों में गिरकर रोने लगा। जब शतानीक और मृगावती को उस अंगरक्षक के द्वारा यह विदित हुआ कि चन्दना महाराजा दधिवाहन की पुत्री है तो मृगावती ने अपनी भानजी को अंक में भर लिया।

इन्द्र ने शतानीक से कहा चन्दनबाला भगवान को केवलज्ञान होने पर उनकी पट्ट शिष्या बनेगी। तथा अपना आत्म-कल्याण करेगी। यह भोगों से नितान्त विरक्त है। इसलिए इसका विवाह करने का प्रयत्न न किया जाए। तत्पश्चात् देवेन्द्र और देवगण अपने-अपने स्थान को लौट गए। महाराजा शतानीक भी महारानी मृगावती व चन्दनबाला के साथ राजमहलों में लौट आए।

चन्दनबाला राजप्रासादों में रहते हुए भी साध्वी के समान विरक्त जीवन व्यतीत करने लगी। आठों प्रहर यही लगन उसे लगी रहती कि वह दिन शीघ्र आए जब भगवान महावीर को केवलज्ञान हो और वह उनके पास दीक्षित होकर संसार सागर को पार करने के लिए अथक प्रयास करे।

भगवान को केवलज्ञान होने पर चन्दनबाला ने प्रभु से दीक्षा ग्रहण की और भगवान के श्रमणीसंघ का समीचीन रूप से संचालन करते हुए अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याओं से अपने कर्म-समूह को भस्मसात् कर आत्म-स्वरूप को प्राप्त किया।

इस प्रकार भगवान महावीर की शिष्यपरम्परा में अनेक विद्वान् एवं विदुषियां सम्मिलित थीं, जिन्होंने उनके विचारों और साधनाओं का मानव-कल्याण के हित में चतुर्दिक प्रचार किया है। इसके लिए दो प्रकार के साधन उन्होंने अपनाए। एक तो स्वयं अपने जीवन की साधना व तपस्या द्वारा तथा अपनी विद्वत्ता से सैद्धान्तिक साहित्य के निर्माण द्वारा उन्होंने भगवान महावीर की विरासत को सुरक्षित रखा। आज हमारे समक्ष आचार्यों द्वारा सुरक्षित साहित्य उनकी स्मृति स्वरूप अवशिष्ट है।

भगवान महावीर के वचनों को जिस साहित्य में समाहित किया गया है उसे आगम कहते हैं। ऐसी मान्यता है कि महावीर ने जो कुछ भी कहा था उसे गणधरों ने धारण किया और बाद में वे अपने शिष्यों को उसे सौंप गये। महावीर के निर्वाण के बाद लगभग ८–९ सौ वर्षों तक यह साहित्य आचार्यों के कंठों में ही निवास करता रहा। लगभग ईसा की ३–४ शताब्दी में इसे लिपिबद्ध किया गया। यद्यपि उसका स्वरूप और पहले निश्चित हो चुका था।

'इस साहित्य के सम्बन्ध में भी दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मतभेद है किन्तु जहां तक महावीर के सिद्धान्तों का प्रश्न है, उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। मात्र दृष्टियों की भिन्नता है। जैसाकि मैंने आपको पहले कई प्रसंगों के साथ स्पष्ट किया है।'

●●

२१. तत्वज्ञान के व्याख्याता

'भद्र ! आज तक आपने भगवान महावीर की पूर्वपरम्परा, देशकाल की स्थिति, उनके जन्म, शैशव एवं युवावस्था की कथा, विवाह-प्रसंग, अभिनिष्क्रमण, बारह वर्ष की साधना, तीस वर्षों का जनकल्याण के लिए समर्पित जीवन एवं उनके शिष्य-परम्परा की कथा जिज्ञासापूर्वक सुनी। चित्रांगद, श्रीकण्ठ, समुद्रदत्त एवं सुश्री कनकप्रभा आदि कलाकार तो मानों महावीर की कथा को अपने मानस में ही अंकित करते रहे हैं। उससे भी अनुपम होगा महावीर का वह जीवन, जिसे वे कलाकार गुहा की इन चित्तभित्तियों में अंकित करेंगे। मेरी अभिलाषा है, इन कलाकारों की कृतियों में प्राणों का भी संचार हो। यह तभी संभव है, जब वे महावीर के जीवन को उसकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के साथ चित्रों में उतारें। और फिर मैं भी तो उस महामानव की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियों से गुजर कर अपना जीवन सार्थक करना चाहता हूं। अतः महावीर की समस्त देशना की कथा उनके विभिन्न गुणों के माध्यम कहूंगा। आप सब उसके साक्षी हों।'

इस प्राथमिक के साथ आचार्य कश्यप के नेत्र बन्द हो गये। अन्तरात्मा के नयन खुल गये। वे उन सब उपदेशों को संजोने लगे, जिन्हें भगवान महावीर ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए देश के विभिन्न भूभागों में उद्घोषित किया था। शिल्पीसंघ कथा प्रारम्भ होने के समय जितना उत्सुक और जिज्ञासु था, महावीर की कथा के इस उपसंहार के समय वह उतना ही श्रावक बन चुका था। कलाकारों की आत्माएं स्वानुभूति की ओर अग्रसित होने के लिए उन मार्गों को जान लेना चाहती थीं, जिनसे होकर महावीर गुजरे थे। आचार्य-कश्यप की देशना प्रारम्भ हो गयी—

'भगवान महावीर ने जगत् के पदार्थों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। उन्होंने अपनी अनुभूति को सात तत्वों में विभाजित किया है—जीव, अजीव,

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष । इनके स्वरूप का निरूपण ही श्रमण-धर्म की व्याख्या है, जो महावीर अपनी देशनाओं में विभिन्न प्रसंगों में करते रहे हैं। इनके अस्तित्व को इस प्रकार समझा जा सकता है—

जीवतत्व

महावीर ने जीव का मुख्य लक्षण उपयोग कहा है। उपयोग का अर्थ है—दर्शन और ज्ञान। प्रत्येक जीव में अपनी सत्ता के अनुभवन की शक्ति का नाम दर्शन है और बाह्य पदार्थों को जानने-समझने की शक्ति का नाम है ज्ञान। संसार के जिन पदार्थों में ये दर्शन और ज्ञान शक्तियां उपलब्ध हैं वे जीव कहलाते हैं। उनकी प्रमुख पहिचान चेतनता है। चैतन्यता की अनुभूति पांच इन्द्रियों, मन, वचन व काय रूप तीन बलों तथा श्वासोच्छ्वास आदि दस प्राणों की हीनाधिक सत्ता से होती है। इसके अतिरिक्त जीव के और भी अनेक गुण हैं। उसमें कर्तृत्व-शक्ति एवं उपभोग का सामर्थ्य है। स्वरूप की दृष्टि से वह अमूर्तक है तथा जिस शरीर में वह रहता है उसके समस्त अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त रहता है।

जीव को ही आत्मा कहा गया है। आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। संसार या मोक्ष अवस्था में भी जीव के अस्तित्व का विनाश नहीं होता। इस प्रकार के जीवों की संख्या अनन्त है। उनकी चेतनता एवं दर्शन व ज्ञान गुणों की हीनाधिकता के कारण संसारी जीवों के दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। साधारण जीव वे हैं, जो वृक्षादि में रहते हैं तथा जिनकी आहार, श्वासोच्छ्वास आदि की क्रियाएं एक साथ सामान्य ढंग से होती हैं। इनके इस सामान्य शरीर को निगोद कहते हैं। निगोदिया जीवों की आयु अत्यल्प होती है। यहां से मर कर ये जीव क्रमशः ऊपर की योनियों में आते रहते हैं। इन जीवों की संख्या अनन्त है। अतः कितनी ही आत्माएं मुक्त होती जांय, संसार में जीवों की संख्या कम नहीं पड़ेगी।

प्रत्येक जीव इन्द्रियभेद से पांच प्रकार के होते हैं। मात्र स्पर्श इन्द्रिय जिनके होती है वे एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनके पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। जिनके स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। यथा लट आदि। त्रीन्द्रिय

जीव वे होते हैं, जिनके स्पर्श, रसना और घ्राण इन्द्रियां होती हैं। यथा-चींटी आदि। इनमें नेत्र इन्द्रिय और जिनके होती है वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे—भ्रमर इत्यादि। पशु, पक्षी एवं मनुष्य श्रोत्र इन्द्रिय अधिक होने से पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। इनके दो भेद हैं—मनयुक्त पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी एवं मनरहित असंज्ञी कहे जाते हैं। ये समस्त प्रकार के संसारी जीव चार गतियों में भ्रमण करते हैं—मनुष्यगति, पशु-पक्षी आदि इतर प्राणियों की तिर्यञ्चगति, देवगति तथा नरकगति में। प्रत्येक जीव अपने कर्मों के अनुसार इन गतियों में आता-जाता रहता है।

भगवान महावीर ने इन सब जीवों का अध्ययन किसी प्रयोगशाला में नहीं किया था। अपितु उन्होंने अपनी आत्मा के स्पन्दन को इतना विस्तृत किया था कि वे इन सबके स्वरूप व कार्यों को समझ सके। निगोद के साधारण जीवों के स्वरूप की खोज भगवान महावीर की अपनी है। इसी आधार पर वे मुक्ति के स्वरूप की सही व्याख्या प्रस्तुत कर सके हैं।

'आचार्यप्रवर! यद्यपि आपकी शैली व्याख्यात्मक है, किन्तु महावीर की पकड़ बहुत सूक्ष्म है। दार्शनिक विषयों का विवेचन आप कर रहे हैं। अतः कृपया हमारी जिज्ञासाओं को समाधित करते हुए ही आगे बढ़ेंगे। ऊपर आपने निगोद, संसार एवं मोक्ष के जीवों की बात कही। अनन्त संख्या का भी उल्लेख किया। कृपया उनमें निहित अर्थ को भी उजागर करें।'

'भद्र चित्रांगद! महावीर का दर्शन जितना सूक्ष्म है, आप सबकी जिज्ञासाएं उतनी ही तीव्र। अतः सत्य तक हम अवश्य पहुंचेंगे। निगोद में अनन्त जीवराशि की धारणा महावीर की अपनी है। उन्होंने जीवों का जो वर्णन किया है उसके सामान्यतः तीन भाग किये जा सकते हैं—निगोद के जीव, संसार के जीव एवं मोक्ष के जीव। निगोद वह अवस्था है, जहां जीव की चेतना पूर्णतया मूर्च्छित होती है, किन्तु अचेतन नहीं। संसारी जीव अर्द्ध-मूर्च्छित होते हैं तथा मोक्ष है—परम अमूर्च्छित आत्माओं का लोक। पूर्ण जागृति की अवस्था। अतः निगोद और मोक्ष इन दो अतियों को जोड़ने वाला संसार है। पुरुषार्थ करने का क्षेत्र।

महावीर ने जो जीवों की अनन्तता की बात की है, वह भी अद्भुत है।

'निगोद में भी अनन्त जीव तथा मोक्ष में भी अनन्त जीव। एवं संसार में भी अनन्त उनकी पर्यायें। महावीर का यह अपना गणित है। अनन्त का अर्थ है—संख्या का विसर्जन एवं उसकी निरर्थकता। अतः अनन्त एक ऐसी राशि है, जिसमें से कितना भी निकलो न कोई कमी पड़ती है और कितना ही जोड़ो न कोई वृद्धि होती है। इसीलिए कितनी ही आत्माएँ मुक्त होती रहें संसार में उनकी कमी नहीं होगी। निगोद से आती रहेंगी। और मोक्ष में उनकी कभी भीड़ नहीं होगी। अतः जीवों के अनन्त होने की यही सार्थकता है। महावीर जब जगत् को अनादि और अनन्त कहते हैं तो उसका भी यही अर्थ है कि यह संसार न कोई पैदा कर सकता है और न ही इसका कहीं अन्त होगा। परिवर्तन चाहे जो होते रहें।'

अजीवतत्व

दर्शन और ज्ञान गुण से रहित पदार्थ अचेतन हैं, जिन्हें अजीवतत्व कहा जाता है। महावीर ने इसको एक महत्वपूर्ण नाम दिया है—'पुद्गल'। पुद्गल का अर्थ है—ऐसे परमाणु जिनका पूरण (संघात) और गलन (भेद) निरन्तर होता रहता हो। संसार के समस्त पदार्थों की यही दशा है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि से लेकर पशु-पक्षी व मनुष्यों के शरीर सब पुद्गल के ही रूप हैं। वास्तव में यह अजीव द्रव्य जीवतत्व का परम सहयोगी है। इसके अस्तित्व से ही जीव की चेतना क्रमशः विकसित हो पाती है। संसार में दिखायी पड़ने वाला मात्र पुद्गल पदार्थ ही है। और सब उसकी अपेक्षा से अरूपी हैं।

जीव और पुद्गल के अतिरिक्त भगवान महावीर ने अन्य चार द्रव्यों का भी परिचय दिया है। वे हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल। धर्मद्रव्य समस्त लोक में व्याप्त है। इसीके कारण जीवों और पुद्गलों का गमनागमन संभव होता है। अधर्मद्रव्य के अस्तित्व से संसार के पदार्थ स्थिर हो पाते हैं। चौथा अजीवद्रव्य आकाश है, जो समस्त द्रव्यों को ठहरने के लिए अवकाश प्रदान करता है। आकाश के जिस भाग में द्रव्यों की सत्ता पायी जाती है, उसे लोकाकाश और जहां अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। पांचवां द्रव्य काल है, जिसके कारण संसार की क्रियाओं की अवधि आदि का ज्ञान किया जाता है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने इस विश्व के मूल तत्वों--जीव और अजीव, की सूक्ष्मता से व्याख्या की है। इनके भेद-प्रभेदों में जाने का एक ही कारण दिखायी पड़ता है कि व्यक्ति अपने ज्ञान को इतना विकसित करले कि वह चेतनता और अचेतनता को पहिचानने लगे। अचेतनता की जानकारी उसकी जितनी बढ़ेगी वह उतनी ही तीव्रगति से चेतनता की उपलब्धि का प्रयत्न करेगा। यही उसका आत्मोपलब्धि का मार्ग होगा। वह जान पायेगा कि चेतन और अचेतन का सम्बन्ध किन कारणों से है ? कैसे उसका विच्छेद सम्भव है ?

द्रव्य का स्वरूप

महावीर ने जीवादि छह द्रव्यों के निरूपण के साथ यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि संसार के पदार्थों में जो विचित्रता दिखायी पड़ती है, वह किसी की कृपा न होकर स्वयं द्रव्य के स्वरूप के कारण है। द्रव्य में गुण और पर्याय ये दो विशेषताएं होती हैं। प्रत्येक द्रव्य का गुण (स्वभाव) कभी नहीं बदलता, किन्तु उसकी पर्याय में निरन्तर नवीनता और क्षीणता होती रहती है। अतः इस प्रकार द्रव्य में निरन्तर तीन क्रियायें दिखायी पड़ती हैं---उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यता (स्थिरता)। इन्हीं के कारण संसार के पदार्थों में गतिशीलता होती रहती है। इसके लिए किसी नियन्ता की आवश्यकता नहीं होती।

द्रव्यों के स्वरूप को अन्य भारतीय विचारकों ने पूर्णता से नहीं पकड़ा। बुद्ध की दृष्टि उसकी व्ययक्रिया पर रही, अतः उन्होंने संसार को क्षणिक माना और वेदान्त आदि दर्शन पदार्थ की स्थिरता को देखते रहे अतः उन्होंने संसार को कूटस्थ नित्य मान लिया। महावीर ने द्रव्य को पूर्णता से जाना और कहा कि ये तीनों क्रियाएं द्रव्य में निरन्तर होती रहती हैं। भगवान महावीर तत्वों की सूक्ष्मता का अध्ययन इसलिए भी प्रस्तुत कर सके क्योंकि उनकी अहिंसा की परिधि बहुत विस्तृत थी। उन्होंने अपनी आत्मा, निजत्व का विस्तार जीवन के निम्न से निम्न एवं सर्वोच्च तलों तक कर लिया था। इस कारण वे परम तत्वज्ञानी एवं उसके व्याख्याता हो सके।

२२. कुशल मनोवैज्ञानिक

'महावीर की दृष्टि विश्व के सात तत्वों का निरूपण करते समय जीव-अजीव के सम्बन्धों पर अधिक रही है। क्योंकि चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु यही है। जीव एवं अजीव तत्वों के निरूपण द्वारा महावीर ने सृष्टि का सम्यक् विश्लेषण किया था। तथा आश्रव और बन्ध तत्वों की समीक्षा द्वारा उन्होंने कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या की है। उनका यह अध्ययन जीव-अजीव के सम्बन्धों द्वारा प्राणियों के मानस का विश्लेषण था। एक कुशल मनोवैज्ञानिक की तरह महावीर ने प्राणियों के मानसिक स्पन्दन और उसके बाह्य प्रभाव की विस्तृत मीमांसा की है। इसे थोड़ा विस्तार से समझना होगा।'

'कर्मों का जीव तक पहुंचने का साधन क्या है तथा जीव के समक्ष पहुंचने पर कर्म उससे अपना सम्बन्ध कैसे स्थापित करते हैं, इन प्रश्नों का समाधान महावीर ने समीचीन ढंग से किया है। जीव और कर्मों का बन्ध तभी सम्भव है जब जीव में कर्म पुद्गलों का आगमन हो। अतः कर्मों के आने के द्वार को महावीर ने 'आश्रव' कहा है। यह द्वार जीव की ही एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। जीव मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं वह सब कर्मों के आने में कारण है। मन, वचन, काय की इस क्रिया को ही महावीर ने 'योग' कहा है। अतः मन और पांचों इन्द्रियां कर्मों के आगमन में प्रमुख कारण हैं। इन छहों की क्रियाओं द्वारा आत्मा का पुद्गल-परमाणुओं से सम्पर्क होता है, इसलिए इस सम्पर्क को 'कर्म' कहा गया है।'

महावीर ने जीव के साथ कर्मों के सम्पर्क को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि मन और इन्द्रियों से कर्म-परमाणु आत्मा के समक्ष दो तरह से आते हैं और उसमें मिल जाते हैं। प्रथम काय आदि योगों की साधारण क्रियाओं के द्वारा और दूसरे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार तीव्र मनोविकार

रूप कषायों के वेग से प्रेरित होकर। प्रथम प्रकार के कर्माश्रव को मार्गगामी कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा आत्मा और कर्मप्रदेशों का कोई स्थायी बन्ध उत्पन्न नहीं होता। कर्मपरमाणु आते हैं और चले जाते हैं। जैसे कि किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर पड़ी हुई धूल शीघ्र झड़ जाती है, देर तक वस्त्र से चिपटी नहीं रहती। इस प्रकार का कर्माश्रव समस्त ससारी जीवों के निरन्तर हुआ करता है। क्योंकि उनके मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाएं होती ही रहती हैं। किन्तु इनका विशेष प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता।

परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएं कषायों से युक्त होती हैं तब आत्मप्रदेशों में एक ऐसी परपदार्थ-ग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण उसके सम्पर्क में आने वाले कर्मपरमाणु उससे शीघ्र पृथक् नहीं होते। आत्मा की इस कषाय-अवस्था में उत्पन्न हुआ कर्माश्रव अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिये बिना आत्मा से पृथक् नहीं होता। अतः कषाययुक्त कर्मों के कारण ही जीव का इस संसार में बन्धन है। भगवान महावीर ने इन्हीं कर्मों की शृंखला को रोकने का उपदेश दिया है।

महावीर ने कहा है कि जीव और कर्म सम्बन्ध अनादि है। जीव की सचेतनता में अचेतनता के जो अंश होते हैं वही नये कर्मों का आह्वान करते रहते हैं, जिन्हें रागद्वेष कहा गया है। रागद्वेष और कर्म एक दूसरे के जन्मदाता हैं। इसी क्रम का नाम संसार-चक्र है। इनका सम्बन्ध अनादि होने से मुक्ति का मार्ग खुला रहता है। क्योंकि एक बार कर्मों से सर्वथा विमुक्त होने पर आत्मा पुनः कर्मबन्धन नहीं करती। क्योंकि उसकी अचेतनता पूर्णरूप से विसर्जित हो जाती है। इसीलिए महावीर ने पूर्ण सचेतन, सजग होने को कहा है। मूर्च्छा और अचेतनता को तोड़ने को।

महावीर ने विश्व के चौथे तत्व 'बन्ध' का जिस प्रकार निरूपण किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म कितने प्रकार के हैं, किन क्रियाओं से कौन कर्म बंधते हैं, यह बन्धन कब तक रहता है, कैसे फल देता है, किस प्रकार घटता-बढ़ता है तथा किन प्रयत्नों द्वारा सर्वथा नष्ट होता है इत्यादि। मूलतः कर्म आठ प्रकार के माने गये हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इनके सबके अलग-अलग कार्य हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत्त करता है। उसे स्वानुभूति नहीं होने देता। मोहनीय कर्म जीव की रुचि व चरित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। अन्तराय कर्म जीव को सुखानुभूति नहीं होने देता। वेदनीय कर्म के प्रभाव से आत्मा सुख-दुख का अनुभव करती है। आयु कर्म जीव की देव, नरक, मनुष्य एवं तिर्यञ्च गतियों का निर्धारण करता है। गोत्रकर्म उसे नीच या उच्च गोत्र में ले जाता है। तथा नामकर्म जीव का शारीरिक निर्माण करता है। किसी को सुन्दर व कुरूप आदि बनाना इसी के हाथ में है। इन सभी कर्मों का बन्ध इनके अनुरूप कषायात्मक क्रियाएं करने से होता है। मन वचन एवं काय का योग तथा रागद्वेष की भावनाएं जिस प्रकार की होंगी कर्मों का स्वभाव एवं उनके फल देने की शक्ति भी वैसी ही होगी। अतः जिस प्रकार जीव स्वयं कर्म-बन्धन करता है, उसी प्रकार वह अपनी क्रियाओं द्वारा उनका निरोध भी कर सकता है। महावीर ने कर्म-विमुक्ति का भी विशद विवेचन किया है।

'गुरुदेव, कर्म-सिद्धान्त का विवेचन अति सुन्दर है। मौलिक भी। जिज्ञासा यह है कि इसके इतने विस्तृत विवेचन की भगवान महावीर को आवश्यकता क्या थी? क्या था उनका प्रतिपाद्य?'

'सुश्री कनकप्रभा! इसी विषय पर मैं क्रमशः आ रहा था। तुम जानती हो कि महावीर के समय तक यह धारणा पुष्ट हो चुकी थी कि कर्मों को करने वाला जीव है एवं तदनुसार उसे फल देने वाला कोई दूसरा है, जिसे ईश्वर कहा गया है। महावीर के अनुभव में यह बात कभी नहीं उतर पायी कि कर्म कोई और करे, फल कोई दूसरा दे। अतः उन्होंने इस स्थिति का गहराई से अध्ययन किया। चिंतन-मनन भी। जिसकी दो निस्पत्तियां हुईं कि इस विश्व की विचित्रता व अस्तित्व तत्त्वों का मात्र परिवर्तन है, किसी अदृष्ट शक्ति की सृष्टि आदि नहीं। तथा प्रत्येक आत्मा जैसे अपने अस्तित्व के लिए स्वतन्त्र है उसी प्रकार अपने बन्ध और विमुक्ति के लिए भी। अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ को जागृत करने के लिए महावीर ने कर्म-

सिद्धान्त का यह विश्लेषण किया था।'

एक बात और समझ लें। महावीर के युग में जितनी विकृतियाँ थीं उतनी शायद कभी नहीं रहीं। पाखण्डी एवं क्रूर व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से सुखी देखे जाते थे तथा धार्मिक एवं अहिंसा में विश्वास करने वालों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ रहा था। यह सब देखकर लोगों की यह धारणा बन गई थी कि मनुष्य कर्म इस जन्म में करता है एवं उसके फल उसे अगले जन्म में मिलते हैं। अथवा पूर्वजन्मों के फल व्यक्ति इस जन्म में भोग रहा है। इस लम्बी कारण-कार्य की शृंखला का महावीर ने जब निकट से परीक्षण किया तो उन्हें इसका कोई आधार दिखाई नहीं पड़ा। बल्कि इस भ्रम के दर्शन हुए कि जैसे कुछ लोगों ने अपने सुख-दुःख को ईश्वर की कृपा पर निर्भर मान लिया है, उसी प्रकार कुछ ने पूर्व या अगले जन्मों के कारण-कार्यों को। यह दोनों तरह से अपने उत्तरदायित्वों से पलायन है। निष्क्रियता का आमंत्रण है।

'महावीर ने कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा दो समाधान दिए कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई ज्ञात या अज्ञात कारण है। अतः हम कर्म कर रहे हैं उसका तत्काल फल भी भोग रहे हैं। इसका आगे हिसाब-किताब रखने वाला कोई नियन्ता नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिसे हम सुख व दुःख मान रहे हैं वे दोनों ही अपेक्षाभेद से बन्धन के कारण हैं। अतः इन दोनों से छुटकारा पाने का प्रयत्न ही आनन्द में ले जा सकता है। और इस मुक्ति के लिए कई जन्मों की प्रतीक्षा अथवा किसी की अनुकंपा की अपेक्षा नहीं है। जिस क्षण आत्मा के स्वरूप का पूर्णतया ज्ञान हो जाय उसी समय समस्त कारण-कार्यों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार का विश्लेषण भगवान महावीर की अपूर्व देन थी।'

●●

२३. सजग पुरुषार्थी

'भगवान महावीर अपनी आत्मा के प्रति इतने जागृत हुए कि उन्हें मुक्ति के लिए किसी के प्रति समर्पण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वास्तव में उन्होंने इस द्वन्द्व को ही मिटा दिया कि कोई एक समर्पण करने वाली आत्मा है और दूसरी अनुकंपा करने वाली। आत्मा के दो स्वभाव नहीं हो सकते। अतः उन्होंने सजग एवं पुरुषार्थी आत्मा को ही परमात्मा स्वीकार किया। आत्मा एवं परमात्मा के एकीकरण के कारण ही तत्कालीन लोगों को लगा कि इन्होंने बीच के ईश्वर का लोप कर दिया। अतः महावीर को अनीश्वर-वादी कहा जाने लगा। किंतु गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि ईश्वरत्व को पहिचानने वाला शायद ही महावीर के सदृश कोई व्यक्ति हुआ हो। परमात्मा की सर्वव्यापकता का उद्घोष जितना जिन्होने किया है, दूसरे ने नहीं। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की संभावना की खोज महावीर की अपनी है। विशेषता यह कि इस प्रक्रिया में किसी मध्यस्थ की भी आव-श्यकता नहीं है। मात्र स्वयं जागना होता है।'

तत्कालीन ईश्वर-सम्बन्धी धारणा का महावीर ने विरोध नहीं किया। उन्होंने ऐसी विचारधारा को विरोध के योग्य भी नहीं समझा। उन्होने तो मात्र प्रकृति के नियमों की, जगत् के पदार्थों की ही व्याख्या की। उनके स्वरूपों का उद्घाटन किया है। अब इससे यदि कोई ईश्वर तिरोहित हो जाय, उसकी अर्थवत्ता जाती रहे तो महावीर उसे महत्त्व देने योग्य नहीं समझते।

महावीर के समय में प्राकृतिक नियमों के विश्लेषण में दो अव्यवस्थाएँ फैल हो गयी थीं। एक विचारधारा ने नियमों के ऊपर एक नियन्ता को मान लिया था। नियमों का संचलन उसकी कृपा पर निर्भर हो गया था। आग का सामान्य लक्षण जलाना है, किंतु नियन्ता यदि चाहे तो वह आग किसी

को नहीं भी जला सकती। इस संबंध में सैंकड़ों कथाएँ हैं। भक्त प्रह्लाद की कथा आप जानते हैं। उसने अपनी भक्ति से प्रभु को प्रसन्न किया तो आग ने उसे नहीं जलाया। किन्तु उसकी बुआ ने प्रभु का नाम तक नहीं लिया तो आग ने उसे जला दिया। अतः यह एक सिद्धांत बन गया कि पदार्थों की शक्ति और स्वरूप को जानने की बजाय उनके नियन्ता की कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इस कृपा को प्राप्त कराने में बीच में कई लोग आ गए। और इस तरह व्यक्ति और ईश्वर के बीच गहरी खाई पड़ गई। इतनी गहरी कि वे एक-दूसरे को पहिचान भी न सकते थे। सभी कार्य मध्यस्थों के द्वारा होने लगे।

उस समय कुछ लोग ऐसे भी थे जिनकी बुद्धि में यह नियन्ता की अनुकंपा की बात नहीं बैठी। किंतु जगत् की विचित्रता का समाधान तो करना ही था। अतः उन्होंने यह मान लिया कि जो कुछ भी अदृश्य है, परोक्ष है, उसकी कोई सत्ता नहीं है। चाहे वह ईश्वर हो, स्वर्ग हो या नरक। अतः उन्होंने प्रकृति के नियमों को ही मानना छोड़ दिया। वे यह कहने में असमर्थ हो गए कि आग जला भी सकती है या नहीं। विषय-वासना का कोई प्रतिफल भी होगा या नहीं। इस कारण इन लोगों ने प्रत्यक्ष जीवन को सभी असंगतियों का केन्द्र बना दिया।

महावीर इन दोनों व्यवस्थाओं को देख रहे थे। नियन्ता की स्वीकृति को और नियमों की अस्वीकृति को। उन्होंने अनुभव किया कि एक नियमों को तोड़कर अव्यवस्था कर रहा है तो दूसरा नियन्ता के हस्तक्षेप द्वारा। ये दोनों मान्यताएँ ही वैज्ञानिक नहीं हैं। अतः महावीर ने एक तीसरा चिंतन दिया कि नियमों की अखण्डता को स्वीकारो, उनके अपरिवर्तन को। यह जान जाओ कि आग का स्वभाव जलाना है, हाथ का स्वभाव जलना। हाथ जो आग में डालता है वह कर्म करता है तथा हाथ का जल जाना उसके कर्म का फल है। इतना प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति को यदि हो जाय तो यह उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर है कि वह आग में हाथ डाले या न डाले। जब तक किंचित् भी अज्ञान रहेगा, संशय रहेगा वह हाथ डालता रहेगा। किंतु इस नियम का पूर्ण ज्ञान होते ही असम्भव हो जाएगा फिर आग में हाथ डालना। इस

प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव जानकर यहां के नियमों से अवगत हुआ जा सकता है। तब संसार की विचित्रता, सृष्टि एवं आत्मकल्याण आदि के लिए परापेक्षी नहीं होना पड़ेगा। स्वयं पुरुषार्थ करो, जागो और आनन्द की अनुभूति करो, यही महावीर का संदेश प्राणिमात्र के लिए रहा है।

महावीर की तत्वज्ञान सम्बन्धी इस प्रकार की व्याख्या ने ईश्वर के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है। संसारी जीवों के छोटे-छोटे कार्यों के लिए उसे उत्तरदायी मानने वालों ने ईश्वर को वीतरागता, सर्वज्ञता का अधिकारी नहीं रहने दिया था। एक का वह कल्याण करता था तो दूसरे का संहार। इस प्रकार की असमानता को कुछ लोगों ने ईश्वर के साथ जोड़ दिया था। महावीर ने कहा—'ईश्वर उस शक्ति का नाम है, जो राग-द्वेष, त्याग-भोग, घृणा-प्रेम इन सब द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुका है। उस शक्ति ने यह भलीभाँति जान लिया है कि संसार के प्रति करुणा पुनः संसार-चक्र में फँसने का कारण बनती है। अतः परमात्मा तो अपने मार्ग पर मात्र चलता है, लोगों को उसमें कल्याण दिखे तो वे उसका अनुकरण कर सकते हैं। महावीर यहां भी सभी आत्माओं की स्वतन्त्र-अभिव्यक्ति की बात करते हैं। अतः महावीर द्वारा कर्म-सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन अनेक प्रकार की आंशिक धारणाओं से मुक्ति दिलाता है तथा अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सचेत करता हुआ अपनी शक्ति को पहिचानने की प्रेरणा देता है।

••

२४. विश्रुत प्रज्ञा के धनी

रात्रि में पुनः जब शिल्पीसंघ एकत्र हुआ तब आचार्य कश्यप ने महावीर की देशना का सूत्र पकड़ते हुए कहना प्रारम्भ किया—

'भद्र ! महावीर ने कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा जीव और अचेतन के सम्बन्धों पर जितना प्रकाश डाला है, उतना ही 'संवर' और 'निर्जरा' तत्वों के विवेचन द्वारा जड़-चेतन के भिन्न होने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। संवर नाम है उस तत्व का जो कर्मों के आस्रव को रोकता है तथा निर्जरा उसे कहा गया है जो आत्मा से संलग्न कर्मों को धीरे-धीरे बिलग करता है। तब मुक्ति अवस्था प्रगट होती है।

मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में महावीर ने अद्भुत समाधान प्रस्तुत किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीन सिद्धान्त मोक्ष प्राप्ति के प्रमुख साधन हैं। महावीर का सम्पूर्ण जीवन इन्हीं तीनों की अभिव्यक्ति है। उनका बचपन सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने का साधन रहा है। उनका साधना-काल सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में गुजरा है तथा दर्शन और ज्ञान की जो उपलब्धि थी तीर्थङ्कर जीवन में वही चारित्र बनकर प्रकट हुई है। इन तीनों में से प्रथम दो का तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा से सम्बन्ध है। तथा तीसरे का आचार-संहिता से। प्रत्येक के सम्बन्ध में भगवान महावीर ने विस्तार से प्रकाश डाला था। आप उन्हें इस प्रकार समझें—

सम्यग्दर्शन का अर्थ है शुद्ध दृष्टि। ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा केवली द्वारा प्रणीत तत्वों के स्वरूप में सच्चा श्रद्धान उत्पन्न हो। जगत् के पदार्थों के अस्तित्व एवं उनके वास्तविक स्वरूप की जो आत्मज्ञान को उपलब्ध तीर्थङ्करों ने व्याख्या की है, उस व्याख्या के प्रति निश्चित होना सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन का मूल है आत्मा एवं शरीर की भिन्नता को अनुभव करना। इस प्रकार का शुद्ध श्रद्धान किन्हीं जीवों को अकस्मात्, किन्हीं जीवों

को पूर्वजन्म के स्मरण से तथा किन्हीं जीवों को धर्मोपदेश के श्रवण अथवा धर्मोत्सव आदि के दर्शन से उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन में तब दृढ़ता आती है, जब पूर्वोक्त तत्वज्ञान के निरूपण में शंका, आकांक्षा, घृणा आदि भाव मन में न आयें तथा मिथ्या देव, शास्त्र और गुरुओं के प्रति आस्था जागृत न हो। इन दोषों से मुक्त होकर धर्म की निन्दा से रक्षा करना, धर्मीजनों को सत्प्रवृत्ति में दृढ़ करना, उनसे सद्भावना-पूर्ण व्यवहार करना और धर्म के माहात्म्य को प्रगट करने का प्रयत्न करना—आदि कार्य सम्यग्दर्शन को पूर्णता प्रदान करते हैं। साथ ही मिथ्यात्व का इससे विसर्जन हो जाता है। इस प्रकार मिथ्या दृष्टियों को छोड़कर सम्यक्त्व के ग्रहण का अर्थ है—अधार्मिकता से धार्मिकता में प्रवेश। असभ्यता के क्षेत्र से निकलकर सभ्यता और सामाजिकता के क्षेत्र में विचरण। जब तक यह पृष्ठभूमि तैयार न होगी साधक मुक्तिमार्ग की सही दिशा न पा सकेगा। इन कारणों से ही महावीर ने सम्यग्दर्शन के विवेचन में विशेष जोर दिया है।

सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्षमार्ग पर बढ़ने के लिए दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यग्दृष्टि द्वारा जिन जीवादि तत्वों में श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र अन्तरंग है, जो आत्मा की सत्ता का भान कराता है, जबकि ज्ञान का क्षेत्र बहिरंग है जिससे बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न होता है। अत: दर्शन की उपलब्धि द्वारा आत्म-चैतन्य की वह अवस्था हो जाती है, जिसमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो सके।

भगवान महावीर ज्ञान की इन सभी अवस्थाओं से स्वयं गुजरे हैं। अत: उन्होंने ज्ञान के भेद-प्रभेदों का सूक्ष्म वर्णन किया है। इसका एक कारण यह भी है कि वे नहीं चाहते थे कि कोई आत्मा किसी अज्ञान को पकड़कर ही अपने को ज्ञानी मानती रहे। अत: प्रत्येक ज्ञान की सीमा एवं उसके विस्तार की बात महावीर ने की।

सम्यग्दर्शन को उपलब्ध आत्मा से जो ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं भगवान महावीर ने उन्हें पांच नाम दिये हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल-

ज्ञान। इन सब के स्वरूप एवं क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में भी उन्होंने प्रकाश डाला है। ज्ञेयपदार्थ और इन्द्रिय-विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तु बोध उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान का पूर्ण बोध अनेक अवस्थाओं को पार करने के बाद होता है। यथा जब पदार्थ और इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने पर 'कुछ है' ऐसी प्रतीती होती है तो उसे अवग्रह मतिज्ञान कहते हैं। उस अस्पष्ट वस्तुबोध को विशेषरूप से जानने की इच्छा होना 'ईहा' है। फलस्वरूप वस्तु जिस रूप में स्पष्ट होती है वह 'आवाय' है। तथा कालान्तर में जब वस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है एवं स्मरण से उसकी पुष्टि होती है तो वह धारणा मतिज्ञान है। इसी प्रकार ज्ञेयपदार्थों के भी अनेक भेद हैं, जिनके कारण महावीर ने मतिज्ञान को ३३६ प्रकार का बतलाया है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का इतना सूक्ष्म अध्ययन करने वाले महावीर की ज्ञान-चेतना पर्याप्त विकसित रही होगी।

मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। धुंए को देखकर अग्नि के अस्तित्व की, हाथ को देखकर या शब्द को सुनकर किसी मनुष्य की, शास्त्र को सुनकर विभिन्न तत्वों की जानकारी श्रुतज्ञान का ही विषय है। महावीर ने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों को परोक्ष ज्ञान कहा है। क्योंकि वे आत्मा के द्वारा न होकर मन और इन्द्रियों के माध्यम से उत्पन्न होते हैं। महावीर की यह घोषणा बडी अद्भुत थी। जिसे सारी दुनिया प्रत्यक्ष कह रही थी, महावीर ने उसे परोक्ष ज्ञान कहा। उसका कारण यह था कि महावीर आत्मा और इन्द्रियों को भिन्न मानते थे। आत्मा चेतन और इन्द्रिय जड़ है। अतः इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान भी परोक्ष ही होगा, प्रत्यक्ष नहीं। इस घोषणा का यह भी अर्थ था कि व्यक्ति और आगे की यात्रा करे। अपने ज्ञान को, आत्मा को और अधिक विशुद्ध व निर्मल बनाये।

महावीर ने आत्मा को ऐसी शक्ति माना है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियों के अगोचर, अतिसूक्ष्म एवं दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है। क्योंकि यह देश की मर्यादा को लिए हुए होता है। विशेष गुण व ऋद्धि आदि के प्रभाव से यह ज्ञान उपलब्ध होता है।

ज्ञान का अगला चरण मनःपर्यय ज्ञान है। इसकी उपलब्धि से दूसरे के ज्ञान में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इस ज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है, किन्तु विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कभी नहीं छूटता। ज्ञान के इस प्रकार जो भेद किये गये हैं, उनकी यह सार्थकता है कि इससे भगवान महावीर के मानस की विशुद्धता का पता चलता है। दूसरे, साधक हर क्षण सजग भी बना रहता है कि उसे परम ज्ञान की ही प्राप्ति करनी है। इन छोटे-छोटे ज्ञानों के चमत्कारों में ही उलझकर नहीं रह जाना है।

ज्ञान की परम शुद्ध अवस्था को महावीर ने केवलज्ञान कहा है। यह उनकी अनुभूति है कि वे साधना के बाद ऐसी अवस्था में पहुंच गये थे, जहां मात्र ज्ञान ही शेष था और कुछ नहीं। अतः आत्मा के ज्ञान उपयोग का सर्वोच्च विकास केवलज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा विश्व के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकाग्र साधना एवं अनासक्ति और अहिंसक वृत्ति का पूर्णतया विकास करना पड़ता है। अतः यह ज्ञान साधारण प्राणियों के नहीं होता।

ज्ञान की विस्तृत मीमांसा के कारण महावीर एक महत्वपूर्ण कार्य यह कर सके कि श्रोताओं के अन्तस् को पहिचान कर उनके ज्ञान के अनुरूप ही वे देशना देते थे। महावीर इस क्षेत्र में पहले व्यक्ति थे जिन्होंने केवल अपने बोलने की चिन्ता नहीं की, अपितु यह भी विचार किया कि सामने वाला इसे किस प्रकार ग्रहण कर पायेगा। इसके लिए उन्होंने श्रोताओं व श्रावकों की भाषा में अपनी बात कही। किसी वस्तु के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी कर लेना मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु उस वस्तु की व्याख्या किन दृष्टिकोणों से एवं किस प्रकार की भाषा द्वारा की जा सकती है, इसका प्रयत्न भी वक्ता को करना चाहिए। महावीर ने अपनी साधना द्वारा यही किया भी। अतः वे न केवल विश्रुत प्रज्ञा के धनी थे, बल्कि सत्य की गहरायी को प्रकट करने वाले कुशल शोधक भी।

••

२५. सत्य के तलस्पर्शी शोधक

'भद्र ! भगवान महावीर की विश्व को जो महत्त्वपूर्ण देन है उसके सम्बन्ध में प्रकाश डाल कर आज की बात समाप्त करूंगा। महावीर ने ज्ञान के भेद-प्रभेदों का जो प्रतिपादन किया, उसके द्वारा आत्मा के क्रमिक विकास का पता चलता है। तथा इस वस्तुस्थिति का भी भान होता है कि हम ज्ञान की कितनी छोटी-सी किरण को पकड़े बैठे हैं, जबकि सत्य की जानकारी सूर्य-सदृश प्रकाश वाले ज्ञान से हो पाती है।

महावीर ने इस क्षेत्र में एक अद्भुत कार्य और किया। उनके युग में चिन्तन की धारा अनेक टुकड़ों में बंट गयी थी। वैदिक परम्परा के अनेक विचारक थे तथा श्रमण-परम्परा में ६—७ तीर्थङ्करों का अस्तित्व था। प्रत्येक अपने को इस परम्परा का २४वां तीर्थङ्कर प्रमाणित करने में लगा था। ये सभी विचारक अपनी दृष्टि से सत्य को पूर्णरूपेण जान लेने का दावा कर रहे थे। प्रत्येक के कथन में दृढ़ता थी कि सत्य मेरे कथन में ही है, अन्यत्र नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि अज्ञानी एवं अन्धविश्वासी लोगों का कुछ निश्चित समुदाय प्रत्येक के साथ जुड़ गया था। अतः प्रत्येक सम्प्रदाय का सत्य अलग-अलग हो गया था।

महावीर यह सब देख-सुनकर आश्चर्य में थे कि सत्य के इतने दावेदार कैसे हो सकते हैं ? प्रत्येक अपने को ही सत्य का बोधक समझता है, दूसरे को नहीं। ऐसी स्थिति में महावीर ने अपनी साधना एवं अनुभव के आधार पर कहा कि सत्य उतना ही नहीं है, जिसे मैं देख या जान रहा हूं। यह वस्तु के एक धर्म का ज्ञान है। एक गुण का। पदार्थ में अनन्त गुण एवं अनन्त पर्यायें हैं। किन्तु व्यवहार में उसका कोई एक स्वरूप ही हमारे सामने आता है। उसे ही हम जान पाते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सापेक्ष रूप से हो सकता है। पदार्थों का ज्ञान करने के दो साधन हैं—प्रमाण एवं नय। जब हम केवल-

ज्ञान जैसे प्रामाणिक ज्ञान के अधिकारी होते हैं तब वस्तु को पूर्णरूपेण जा
की क्षमता रखते हैं। किन्तु जब हमारा ज्ञान इससे कम होता है तो हम व
के एक अंश को जानते हैं, जिसे नय कहते हैं। लेकिन जब हम वस्तु
जानकर उसका स्वरूप कहने लगते हैं तो एक समय में उसके एक अंश को
कह पायेंगे। अतः सत्य को सापेक्ष मानना चाहिए।

उस युग में महावीर की इस बात से अधिकांश लोग सहमत नहीं
पाये। लोगों को आश्चर्य होता यह देखकर कि यह कैसा तीर्थङ्कर है, जो
ही वस्तु को कहता है 'है' और कहता है 'नहीं है'। अपनी बात को भी र
कहता है और जो दूसरों का कथन है उसे भी गलत नहीं मानता।
आश्चर्य के कारण उस युग में भी महावीर के अनुयायी उतने नहीं बने, जि
दूसरे विचारकों के थे। क्योंकि व्यक्ति तभी अनुयायी बनता है, जब उस
गुरु कोई बंधी-बंधाई बात कहता हो। जो यह सुरक्षा देता हो कि मेरा उपर
तुम्हें निश्चित रूप से मोक्ष दिला देगा। महावीर ने यह कभी नहीं कह
इस कारण उनके ज्ञान और उपदेशों के वही श्रावक बन सके जो स्वयं
पुरुषार्थ में विश्वास रखते थे एवं बुद्धिमान थे।

महावीर जैसा गैरदावेदार आदमी ही नहीं हुआ इस जगत् में। उन
एकदम असाम्प्रदायिक चित्त था। इसी कारण वे सत्य को विभिन्न कोनों
देख सके हैं। महावीर के पूर्व उपनिषद् कहते थे कि ब्रह्म की व्याख्या न
हो सकती। बड़ा अद्भुत है उसका स्वरूप। महावीर ने कहा ब्रह्म तो ब
दूर की चीज है. तुम एक घड़े की ही व्याख्या नहीं कर सकते। उस
अस्तित्व भी अनिर्वचनीय है। इसे महावीर ने विस्तार से समझाया।

महावीर के पूर्व सत्य के सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण थे (१) है, (
नहीं है और (३) दोनों नहीं भी एवं है भी। घट के सम्बन्ध में यह क
जाता था कि वह घट है, कोई कपड़ा आदि नहीं। घट नहीं है, क्योंकि वह
मिट्टी है। तथा घड़े के अर्थ में वह घड़ा है तथा मिट्टी के अर्थ में घड़ा नहीं
इस प्रकार वस्तु को इस त्रिभंगी से देखा जाता था। महावीर ने कहा
सिर्फ तीन से काम नहीं चलेगा। सत्य और भी जटिल है। अतः उन्हं
इसमें चार सम्भावनाएं और जोड़ दीं। उन्होंने कहा कि घट स्यात् अनिर्वचनं

है, क्योंकि न तो वह मिट्टी कहा जा सकता है और न घड़ा ही। इसी अनिर्वचनीय को महावीर ने प्रथम तीन के साथ और जोड़ दिया। इस प्रकार सप्तभंगी द्वारा वे पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या करना चाहते थे।

इस सप्तभंगी नय को महावीर ने अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाया है। उनमें छह अन्धों और हाथी का दृष्टान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। आप इसे अन्य उदाहरण से समझें। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, पति, मामा, भानजा, काका, भतीजा इत्यादि सभी हो सकता है। एक साथ होता है। किन्तु उसे ऐसा सब कुछ एक साथ नहीं कहा जा सकता। उसकी एक विशेषता को मुख्य और शेष को गौण रखकर ही कहना होगा। यहां गौण रखने का अभिप्राय उसकी विशेषताओं का अस्वीकार नहीं है और न संशय या अनिश्चय ही। बल्कि व्यावहारिकता का निर्वाह है। अतः किसी वस्तु का युगपद् कथन न जरूरी है और न सम्भव। फिर भी उसकी पूर्णता अवश्य बनी रहती है। वस्तुओं के इस अनेकत्व को मानना ही अनेकान्तवाद है।

पदार्थों की अनेकता स्वयं द्रव्य के स्वरूप में छिपी है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त होता है। प्रत्येक क्षण उसमें नयी पर्याय की उत्पत्ति, पुरानी पर्याय का नाश एवं द्रव्यपने की स्थिरता बनी रहती है। इसी बात को कहने के लिए महावीर ने अनेकान्त की बात कही। वस्तु का अनेक धर्मा होना 'अनेकान्तवाद' है तथा उससे अभिव्यक्त करने की शैली का नाम 'स्याद्वाद' है। स्याद्वाद कोई संशयवाद नहीं है। अपितु 'स्यात्' शब्द का प्रयोग वस्तु के एक और गुण की सम्भावना का द्योतक है।

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद की जितनी दर्शन व चिन्तन के क्षेत्र में आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक व्यावहारिक दैनिक जीवन में। अनेकान्तवाद की यही निष्पत्ती है कि हम अपने-आप को इतना तैयार करें कि दूसरे को सुन सकें। कहने की क्षमता से बहुत बड़ी है दूसरे के विचारों को सुन पाने की क्षमता। इससे व्यक्ति का अहंकार तो तिरोहित होता ही है, वह सत्य के अन्य कोनों को भी जान लेता है, जहां उसकी दृष्टि नहीं पहुंची थी।

महावीर की इस विचारधारा द्वारा समन्वय का वातावरण प्रत्येक युग में तैयार किया जा सकता है। क्योंकि एकान्त विग्रह है, फूट है। जबकि अनेकान्त

मैत्री है, संधि है। इसे यों भी समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सही मार्ग पर चलने के लिए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय यातायात संकेत बने हुए हैं और पथिक उनके अनुसरण से ठीक-ठीक चल लेते हैं। उसी प्रकार स्वस्थ्य चिन्तन के मार्ग पर चलने के लिए अनेकान्तवाद द्वारा महावीर ने सात संकेतों की रचना की है। इनका अनुगमन करने पर किसी बौद्धिक दुर्घटना की आशंका नहीं रह जाती। अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय के लिए अनेकान्तवाद एक विश्वसनीय चिन्तन-प्रणाली है। ज्ञान की सार्थकता इसी में है।

इस प्रकार महावीर ने मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र का जो मार्ग बतलाया था उसके दो सोपान पूरे हुए। तीसरा मार्ग इन दोनों की अभिव्यक्ति का ही है। महावीर बड़े व्यवस्थित चिन्तक थे। सम्यग्दर्शन में मात्र जगत् के प्रति एक आस्थावान दृष्टि होती है। इसमें व्यक्ति कहीं बीच में नहीं आता। सम्यग्ज्ञान होते ही 'मैं' का प्रवेश हो जाता है। क्योंकि ज्ञान किसी आत्मा को ही होगा और उसकी सामर्थ्य के अनुसार हीनाधिक भी होगा। किन्तु जब ज्ञान प्राप्त हो गया। तत्वज्ञान की जानकारी हो गयी तो उस ज्ञान के अनुरूप आचरण भी प्रगट होगा। आचरण किसी व्यक्ति का अकेला नहीं होता। अतः इसमें समाज भी आ जाता है। यह साधक की कसौटी है कि वह अकेला जो ज्ञान प्राप्त करता है, अपने आचरण द्वारा उसका समाज को क्या लाभ पहुंचाता है। वास्तव में ज्ञानी साधक का आचरण तो फूल की सुगन्ध की भांति होगा और उसके ज्ञान को अधिक विशुद्ध करने में सहायक होगा। अतः महावीर ने दर्शन और ज्ञान की प्राप्ति के बाद चारित्र की क्या अन्विति होगी इसका दिग्दर्शन कराया है। इस कला में भी वे पूर्ण मर्मज्ञ साबित हुए हैं।

'इस सबकी कथा अब मैं कल कहूंगा। मुझे विश्राम की आज्ञा दें।' आचार्य कश्यप के इस कथन के साथ ही सभा विसर्जित हो गयी।

●●

२६. समत्व के प्रतिरूप

'आयुष्मान् !' आज हम सम्यक् चारित्र के सम्बन्ध में बात करेंगे। भगवान महावीर ने जो कुछ अपनी साधना में उपलब्ध किया था उसे अपने आचरण द्वारा प्रगट भी किया है। उनका जो आचरण है, वह एक साधु का है, तपस्वी का है। किन्तु उन्होंने समाज में रहने वाले श्रावक गृहस्थ के आचरण के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है। विशेषता यह है महावीर के कथन में कि वे आचरण से ज्ञान की ओर बढ़ने की बात नहीं कहते। उनका अनुभव यह रहा है कि ज्ञान उपलब्ध होने के बाद ऐसा आचरण प्रगट होना चाहिए, जिसमें स्वयं का एवं आस-पास के वातावरण का कल्याण निहित हो। महावीर के गृहस्थधर्म एवं मुनिधर्म के सम्बन्ध में क्या विचार थे एवं क्या अनुभव, इनकी चर्चा बाद में करूंगा। उन तक पहुंचने के लिए शास्त्रों में गृहस्थ व मुनियों के आचार का जो वर्णन है, पहले उसे भूमिका के रूप में प्रस्तुत करता हूं।

गृहस्थों के प्रमुख पांच व्रतों का वर्णन ग्रन्थों मे मिलता है। अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन एवं अपरिग्रह। हिंसा न करना, झूठ न बोलना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना एवं परिग्रह न रखना। इन पांचों को गृहस्थ का धर्म इसलिए स्वीकार किया कि समाज में मुख्य रूप से बैर और विरोध की जनक यही पांच क्रियाएं हैं। साथ ही गृहस्थजीवन में यदि इन क्रियाओं में परिष्कार सम्भव हो सका तो आगे की साधना में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। जितने अंश में व्यक्ति इनका पालन करने लगेगा उतना ही वह सामाजिक एवं निस्वार्थी होता जायेगा। अतः इन पांच व्रतों का विधान वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की दिशा में अपना विशेष महत्त्व रखता है। गृहस्थों के लिए इन व्रतों को उनकी सामर्थ्य के अनुसार पालन करने को कहा गया है। सम्भवतः गृहस्थों का चित्त इतना ही समर्थ हो पाता होगा कि वे इन व्रतों के पालन में प्रवेश कर सकें। पूर्णता तो उन्हें साधु जीवन में ही दी जा सकेगी।

इन पांचों अहिंसा आदि व्रतों की विशेष जानकारी शास्त्रों में इस प्रकार दी गयी है।

अहिंसा की परिभाषा हिंसा के भेद-प्रभेदों का वर्णन करके दी गयी है। प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिंसा है। इसका अर्थ है कि मन की रागद्वेषात्मक कषायों द्वारा किसी भी प्राणी को मारना या उसे पीड़ा पहुंचाना हिंसा है। यह दो प्रकार की है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। अपनी शारीरिक क्रिया द्वारा किसी जीव को प्राणों से हीन करना द्रव्यहिंसा एवं मन में किसी जीव की हिंसा का विचार करना भावहिंसा है। इस दूसरी हिंसा के करने में व्यक्ति पाप से अधिक युक्त होता है। क्योंकि ऐसा विचार करते ही वह स्वयं अपनी आत्मा के गुणों का घात करता है। गृहस्थ की सीमाओं के अनुसार चार प्रकार की हिंसा कही गयी है—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी। इनमें से संकल्पी हिंसा का गृहस्थ पूर्ण त्याग कर सकता है तथा शेष तीन के विषय में सामर्थ्य के अनुसार संयम कर सकता है। यही उसकी अहिंसा है। इस अहिंसा व्रत की सुरक्षा के लिए परिजनों व पशुओं के साथ व्यक्ति को क्रूरतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए। इन्हें अतिचार कहा गया है, जिनसे बचने का प्रयत्न श्रावक को करना चाहिए।

असद् बोलना अनृत, असत्य, मृषा या झूठ कहलाता है। असद् का अर्थ है—वस्तुस्थिति के प्रतिकूल एवं अनहितकारी वचन बोलना। इससे ज्ञात होता है कि सत्यव्रत के मूल में आत्मपरिणामों की शुद्धि तथा स्व एवं परहितों की रक्षा करने का भाव निहित है। इसमें भी पांच अतिचारों का निषेध तथा पांच भावनाओं का पालन करने को कहा गया है।

बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना अदत्तादान रूप स्तेय या चोरी है। इससे बचना अचौर्यव्रत का पालन करना है। दूसरे से चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, सीमा के बाहर आयात-निर्यात करना, माप-तौल में कूटता करना तथा वस्तुओं में मिलावट करना ये पांच अचौर्यव्रत के अतिचार हैं, जिनका गृहस्थ को परित्याग करना चाहिए।

स्त्री-अनुराग व कामक्रीड़ा के परित्याग का नाम ब्रह्मचर्यव्रत है। इसके पांच अतिचार एवं पांच भावनाओं द्वारा व्यक्ति की कामवासना को मर्यादित

तथा समाज से तत्सम्बन्धी दोषों का परिहार करने का प्रयत्न किया गया है।

पशु, परिजन आदि सजीव एवं घर-द्वार, धन-धान्य आदि निर्जीव वस्तुओं में ममत्व का त्याग करना पांचवा व्रत अपरिग्रह है। गृहस्थों के लिए आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य चीजों के प्रति आसक्ति न करने को कहा गया है। इन पांच व्रतों के पालन एवं इनकी सुरक्षा द्वारा ही श्रावक आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

'गुरुदेव! भगवान महावीर ने क्या उपर्युक्त ढंग से ही पांच व्रतों के स्वरूप आदि का वर्णन किया था अथवा यह उनके वचनों का प्रस्तुतीकरण है? स्पष्ट करें आचार्य।'

'देवी कनकप्रभा! तुम्हारा सोचना एकदम ठीक है। महावीर ने इन पांच व्रतों के लिए उस शब्दावली का प्रयोग नहीं किया होगा, जो शास्त्रों में मिलती है। वास्तव में उन्होंने अपनी देशना में शब्दों का ही प्रयोग नहीं किया। उनसे एक ध्वनि निकलती थी, जिसके अर्थ श्रावक ग्रहण करते थे। और दूसरी बात यह कि महावीर बहुत गहरे चिंतक थे। वे मूल को पकडते थे, फल आना जिनमें अनिवार्य हो जाता था। अत: उन्होंने इन पांचों व्रतों की व्याख्या एकदम दूसरे ढग से की है, जो अधिक ग्राह्य एवं मजबूती की पकड़ है। यद्यपि उपर्युक्त परिभाषा एवं महावीर की व्याख्या में मूलतः कोई विरोध नहीं है। दोनों एक ही लकीर के दो छोर हैं। महावीर भीतर से बाहर आना चाहते हैं। उनको सुनने वाले लोगों ने समझा कि बाहर से भीतर पहुंचा जा सकता है। भीतर के स्वरूप को दोनों बदलना चाहते हैं।

महावीर का अनुभव था कि यदि स्वानुभूति का विस्तार किया जाय तो हिंसा स्वमेव तिरोहित हो जायेगी। हिंसा होती ही दूसरों के साथ है। जब तक बाहर दूसरा बना रहेगा, हिंसा की सम्भावना बनी रहेगी। दूसरे को सुख पहुंचाने की बात जब तक हम सोचते रहेंगे, अहिंसक नहीं हो सकते। क्योंकि हमारा सुख पहुंचाना भी उसे पीड़ा दे सकता है। अतः जब तक हम 'दूसरे' के भाव को ही न मिटा दें, अहिंसा प्रगट नहीं होगी। और दूसरा तब तक दिखायी पड़ता रहेगा, जब तक आप स्वयं को न पहिचान लें। अत: महावीर ने बहुत छोटी-सी परिभाषा दी है—आत्मज्ञान अहिंसा है, आत्म-अज्ञान हिंसा।

अब इसे कितना ही विस्तार दिया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में महावीर की छोटी-सी घटना को सामने रखकर समझें। महावीर यदि चींटी से बचकर चल रहे हैं तो उसमें वही कारण नहीं है जो साधारण अहिंसक कहे जाने वाले का होता है। हम और आप इसलिए चींटी को बचाकर चलेंगे कि कहीं वह हमारे द्वारा मर न जाय। उसके मरने से हम पाप के भागी होंगे। अतः अपने पापी न होने देने के लिए हम उसे बचाते हैं। यहां हमारे अहंकार और स्वार्थ में कोई अन्तर नहीं आया। ऐसी स्थिति में महावीर का सोचना यह है कि वे चींटी से इसलिये बचकर चल रहे हैं कि कहीं अपने पर ही पैर न पड़ जाये। वे अपनी आत्मा और चींटी की आत्मा को समान मानते हैं। अपनत्व का इतना विकास कि किसी को सताना असंभव हो जाय, वही वास्तविक अहिंसा है।

महावीर की अहिंसा को बड़ी गहराई में समझा जा सकता है। मांसाहार का त्याग उन्होंने इसलिए नहीं किया कि किसी प्राणी को मारना पाप-बन्ध का कारण है। उनके मन में यदि यह विचार होता तो मरे हुए प्राणी का मांस खाने में यह खतरा भी दूर हो जाता। किन्तु महावीर ने अपनी आत्मा का जीवन के उस तल तक विकास किया था, जहां छोटे-से-छोटा प्राणी भी उनसे संवाद कर सकता था। महावीर को अपनी आत्मा का ही विस्तार समस्त प्राणी जगत् लगता था। अतः कोई अपनी ही आत्मा व अपने ही शरीर को कैसे मारकर खा सकता है ? एकदम असंभव। इस प्रकार महावीर ने आत्मज्ञान के विकास को ही प्रमुखता दी, जो बीजरूप है। अहिंसा आदि पांच व्रत तो उसके अनिवार्य फल हैं।

अन्य व्रतों के सम्बन्ध में भी महावीर का दृष्टिकोण अधिक विशाल है। सत्य का पालन मात्र झूठ बोलने से बचना नहीं है। ऐसा तो कोई भी दुहरे व्यक्तित्व वाला व्यक्ति अभ्यास से कर सकता है। किन्तु उसे व्रती नहीं कहा जा सकता और न ही उससे वह फलित होगा जो सत्य को हृदयंगम करने वाले से होना चाहिए। अतः सत्यव्रत का अर्थ है कि जगत् की सत्यता, यथार्थता को जानना। तत्वज्ञान से परिचित होना। जब व्यक्ति को यह पता चल जाय कि मेरे अस्तित्व की सार्थकता क्या है, तथा मेरा और जगत् का

संबंध क्या है तो वह झूठ नहीं बोल सकता। असत्य किसी न किसी लालच की तीव्रता के कारण बोला जाता है। उस कामना की वास्तविकता जब समझ में आ जाय तो जीवन से वही प्रगट होगा जो भीतर है। अतः महावीर की दृष्टि में सत्यव्रत के पालन का अर्थ है अन्तस् की यथावत् प्रस्तुति। कपट का, द्वन्द्व का सर्वथा अभाव।

अचौर्यव्रत के सम्बन्ध में महावीर ने बड़ी गहरी बात कही है। उनका अनुभव है कि परत्व के कारण व्यक्ति हिंसा करता है। हिंसात्मक वह न दिखे इसलिए झूठ बोलता है। तथा असत्य में जीने के कारण वह अपने और पर की पहिचान को भूल जाता है, इसलिए जो वस्तुएं उसकी नहीं हैं, और न उसका साथ देने वाली हैं, उनका भी वह संग्रह करने लगता है। जब परिग्रह की लालसा तीव्र हो जाती है तो वह चोरी पर उतर आता है। अतः परिग्रह का जो विकृत रूप है वह चोरी का जन्मदाता है। इस कारण अचौर्य का सम्बन्ध किसी की वस्तु बिना आज्ञा ग्रहण न करना लगा लिया गया।

किन्तु अचौर्यव्रत की इतनी ही अर्थवत्ता नहीं है। महावीर जैसी आत्माएं इतने छोटे कार्यों के लिए प्रेरित नहीं करतीं। अचौर्यव्रत का पालन करना गहन आध्यात्म से भी सम्बन्धित है। महावीर का सोचना है कि यह बिल्कुल सत्य है कि दूसरे की वस्तु को अपनी बना लेना चोरी है। इस प्रवृत्ति से बचना चाहिए। महावीर कहते हैं कि हम इस समझ को जागृत करें कि हम बहुत पुराने चोर हैं। जन्म-जन्मान्तरों से हम शरीर को अपना मानते हुए चले आ रहे हैं। अपने साथ रखते हैं। मनमाना उसका उपयोग करते हैं। अतः यदि अचौर्यव्रत का पालन करना है तो सर्वप्रथम यह समझ में आ जाना चाहिए कि मेरी आत्मा अलग और शरीर अलग है। शरीर के ऊपर से अपने स्वामित्व को हटाना ही अचौर्य में प्रवेश होगा। शरीर से स्वामित्व हटते ही अन्य वस्तुओं की चोरी करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

इसी प्रकार अचौर्य का अर्थ है कि हमारे व्यक्तित्व में जो कुछ भी पराया है—दूसरे का आचरण व दूसरे के विचार उन सब से मुक्ति ले लेना। प्रायः हम कभी किसी के व्यक्तित्व को ओढ़ते हैं तो कभी किसी के विचार द्वारा अपने को प्रगट करते हैं। यह इसलिए होता है कि हम स्वयं को नहीं पहिचान,

पाते। अपनी शक्ति से परिचित नहीं हो पाते। अतः अचौर्यव्रत के पालन का अर्थ है स्वयं में लौटना। क्योंकि हो सकता है कि कभी समृद्धि इतनी अधिक हो जाय कि वस्तुओं की चोरी की आवश्यकता ही न रहे, लेकिन तब भी पर पदार्थों की चोरी होती रहेगी। अतः आन्तरिक चोरी से बचना ही अचौर्य है, जो निजी व्यक्तित्व के प्रकाशन से ही सम्भव है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में भी महावीर की धारणा आध्यात्म से जुड़ी हुई है। वे मानते हैं कि शरीर में अनेक प्रकार की शक्तियां होती हैं, जिनका निष्कासन मैथुन आदि क्रियाओं के द्वारा होता है। उसके बाद व्यक्ति रिक्त हो जाता है। शक्तियों से रिक्त होने का दूसरा माध्यम है कि उनको पैदा ही न होने दिया जाय। व्रत, उपवास, निराहार आदि द्वारा इन पर रोक लगायी जा सकती है। किन्तु इससे भी व्यक्ति में रिक्तता ही आयेगी। अतः कामक्रियाओं द्वारा शक्ति को रिक्त करना अथवा उनको पनपने ही न देना इन दोनों स्थितियों में कोई विशेष अन्तर नही है। आध्यात्मिक उपलब्धि दोनों से नहीं होती। अतः महावीर का कथन है कि ब्रह्मचर्य का अर्थ होना चाहिए ब्रह्म अर्थात् परमात्मा जैसा आचरण। परमात्मा का आचरण निरन्तर 'स्व' के विकास एवं उसको निर्मल बनाने में होता है। अतः व्यक्ति में जो शक्तियां हैं उनका बहाव बाहर की ओर न करके अन्दर की ओर यदि किया जाय तो ब्रह्मपने की उपलब्धि हो सकती है। यही अकाम की साधना है। इससे जन्म-मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है।

पांचवें व्रत के सम्बन्ध में महावीर की दृष्टि एकदम निर्मल है। दूसरों की वस्तुओं के हम इसलिए स्वामी होना चाहते हैं क्योंकि हम असुरक्षा में जीते हैं। हमें निरन्तर यह भय लगा रहता है कि इस वस्तु के न होने पर, इस नौकर या अंगरक्षक के न होने पर, इस महल या सवारी के न होने पर मेरा जीवन दूभर हो जायेगा। इसलिए इन सबका संग्रह है। दूसरी बात इसमें यह है कि व्यक्ति अपने सुख के सिवा दूसरे को सुखी नहीं देख सकता। जो देखते हैं वे दूसरों को 'दूसरा' नहीं मानते। इस कारण वस्तुओं का संग्रह करते समय दूसरे का हक छीनने का भी ध्यान नहीं रहता। और ध्यान रहता भी है तो उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस कारण उन समस्त-

वस्तुओं में जिनमें व्यक्ति की सुरक्षा व सुविधा जुड़ी होती है, व्यक्ति का ममत्व हो जाता है। यह ममत्व का भाव ही, मूर्च्छा का विकास ही परिग्रह है।

महावीर का सोचना है कि बाह्य वस्तुओं के व्यवहार को सीमित कर देना या त्याग देना अपरिग्रह के भाव को नहीं ला सकता। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति पहले अपनी आत्मा की शक्ति को पहिचाने। उसकी पूर्णता से परिचित हो तो वह व्यर्थ की वस्तुओं से अपने को पूर्ण नहीं बनायेगा। वह जब स्वयं का मालिक बन जायेगा तो अन्य वस्तुओं व व्यक्तियों के मालिक बनने की उसे आवश्यकता नहीं रहेगी। अतः अपरिग्रही होने का अर्थ है—अभय की प्राप्ति। निर्भयी व्यक्ति का संग्रह स्वमेव सबके लिए वितरित हो जाता है।

इस प्रकार महावीर ने इन पांचव्रतों के मूल में एक सुचिंतित आध्यात्मिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। आत्मज्ञान की निर्मलता को इनके साधने का साधन माना है। महावीर ने स्वयं को इतना विस्तृत किया है कि प्रत्येक प्राणी में उन्हें अपने समान ही आत्मतत्व के दर्शन हुए हैं। अतः उनका समत्व का विकास इन पांचव्रतों का मूल आधार है। जो श्रावक इस गहरायी तक उतर-कर इनकी साधना करेगा उसके आचरण में वह सब अभिव्यक्त होगा, जिनकी अपेक्षा शास्त्रों के विस्तृत वर्णनों में प्राप्त होती है। अतः श्रमणधर्म में मोक्ष प्राप्त करने का जो चारित्र को साधन माना गया है, उसका अर्थ है कि ऐसा आचरण जो साधक की आत्मा से प्रगट हो। तभी समत्व का विकास समाज के प्रत्येक प्राणी तक हो सकेगा।

●●

२७. आचारशास्त्र के मर्मज्ञ

'आचार्यप्रवर ! पहली बार सुन रहे हैं हम इन व्रतों की यह आध्यात्मिक व्याख्या । इससे महावीर का व्यक्तित्व सचमुच ही अन्य विचारकों से ऊपर उठा हुआ है । गुरुदेव ! गृहस्थ एवं मुनियों के लिए श्रमण-धर्म में और किस आचरण का विधान है, उसे भी कहें । जिज्ञासा है सुनने की ।'

'भद्र चित्रांगद ! आपकी सबकी जिज्ञासा वृद्धि को प्राप्त होती रहे यही मेरे कथन की सार्थकता है । वह सब कहता हूं, जिसे तुम सुनना चाहते हो ।'

महावीर की वाणी जिन ग्रन्थों में संगृहीत की गयी है उनमें उपर्युक्त व्रतों के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिए ऐसी भावनाओं का भी विधान किया गया है, जिनसे असद् वृत्तियों के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो । जीवनमात्र के प्रति 'मैत्री' भावना, गुणीजनों के प्रति 'प्रमोद', दीन-दुखियों के प्रति 'कारुण्य' तथा विरोधियों के प्रति रागद्वेष व पक्षपात के भाव से रहित 'माध्यस्थ-भाव' । इन चार वृत्तियों का मन को अभ्यास कराते रहना चाहिए, जिससे तीव्र रागद्वेषात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाएं जागृत ही न होने पावें । इस प्रकार का दृष्टिकोण आत्मोपलब्धि में तो सहायक होता ही है, इससे नैतिक आचरण द्वारा समाज भी सुसंस्कृत बनता है । महावीर की यह विशेषता रही है कि वे समाज से भागने को नहीं, उसे बदलने की निरन्तर प्रेरणा देते रहे हैं ।

गृहस्थों के लिए अहिंसा आदि पांच मूलव्रतों के अतिरिक्त महावीर के धर्म में कुछ ऐसे व्रतों का भी विधान किया गया है कि जिनसे व्यक्ति की तृष्णा व संचयवृत्ति का नियन्त्रण हो, इन्द्रिय लिप्सा का दमन हो और उदारचित्त का विकास हो । ऐसे तीन गुणव्रत हैं तथा चार शिक्षाव्रत । अपने जीवन की आवश्यकताओं का संचय चार दिशाओं की किसी निश्चित सीमा से करना

'दिग्व्रत' है। इसके भीतर अल्पकाल की मर्यादा निश्चित कर व्यापार आदि करना देशव्रत है। तथा पापात्मक उपदेश एवं दूसरों को अस्त्र-शस्त्र, विष, बन्धन आदि ऐसी वस्तुओं को, जिनसे हिंसा आदि कार्यों की सम्भावना हो, न देना 'अनर्थदण्डविरति' कहा गया है। इन तीनों व्रतों के अभ्यास से मूल-व्रतों के गुणों की वृद्धि होती है तथा श्रावक की आत्मा के गुण प्रकट होते हैं इसीलिए इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

महावीर की यह विशेषता थी कि वे शब्दों को नये अर्थ देने में सिद्धहस्त थे। सामाजिक सन्दर्भ में यह 'अनर्थदण्डव्रत' अद्भुत प्रयोग है। इस व्रत का श्रावक के लिए अर्थ है कि वह उस सबको विसर्जित कर दे जो उसके जीवन की अनर्थता है, प्रयोजनहीनता है। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जीवन में जिसका प्रयोजन देखो उसका उपयोग करो और आगे बढ़ जाओ। संचय मत करो। मार्ग में अनर्थ खड़े रहकर दूसरे का मार्ग मत रोको। यह एक कलाकार की दृष्टि है, भद्र श्रीकण्ठ! इसीलिए मैं इस पर जोर दे रहा हूं। मूर्तिकार शिलाखण्ड में से उस समस्त अनर्थ अंश को छांट देता है, जिसका कोई प्रयोजन नहीं है। और जो बचता है वह होती है एक भव्य कलाकृति। अतः तुम सब महावीर के जीवन से इस प्रेरणा को लेकर ही साधना में बैठना। अस्तु, अब मैं आगे की बात करूं।

शिक्षाव्रतों का अर्थ है—ऐसे व्रत जिनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। इनमें प्रथम है—सामायिक। सामायिक का अर्थ है—समताभाव का आह्वान। मन की ऐसी साम्यावस्था, जहां समस्त असद् वृत्तियों का शमन हो जाय। सामायिक के अभ्यास के लिए गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात, मध्यान्ह, सायंकाल आदि किसी भी समय कम से कम एक बार एकान्त में शान्त और शुद्ध वातावरण में बैठकर मन को धर्म-चिन्तन में लगाने का विधान किया गया है। धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना 'प्रोषधोपवास' है, इससे भूख-प्यास आदि की स्थिति में एकाग्र रहने का अभ्यास होता है। दैनिक खान-पान [illegible]योग की वस्तुओं का क्रमशः त्याग व सीमा बांधना 'भोगोपभोगपरिमाण[illegible]' है। तथा अतिथियों को सत्कारपूर्वक आहार

आदि दान देना 'अतिथिसंविभाग व्रत' है। इन पांच मूलव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत, बारह व्रतों के पालन द्वारा श्रावक के जीवन का परिशोधन कर उसे आत्मकल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करना ही श्रमण-धर्म का उद्देश्य है।

इन व्रतों में 'सामायिक' शब्द भी महावीर की गहन-सूझ-बूझ और प्रज्ञा का द्योतक है। सामान्यतः सामायिक का वही अर्थ लिया जाता है, जो अभी मैंने कहा। किन्तु यह तो असली सामायिक में उतरने की तैयारी है। महावीर ने आत्मा को 'समय' अकारण नहीं कहा है। अस्तित्व हमेशा काल में ही रहना है। अतः ऐसे क्षण की पकड़, जब अस्तित्व अतीत और भविष्य से सिमट कर वर्तमान में हो तो उसे समय कहा जा सकता है। इस प्रकार समय नाम है आत्मा का और सामायिक में होने का अर्थ है—आत्मा में होना। आत्मा में होना वह है, जब केवल अस्तित्व का बोध हो। 'मैं' और कर्ता आदि का नहीं। इस प्रकार सामायिक जैसे अनेक शब्द महावीर ने दिये हैं जो व्यक्ति को आत्मा के समीप ले जाने में परम सहायक हैं। श्रावक का गृहस्थधर्म इन शब्दों व व्रतों के पीछे छिपे अर्थ को खोज निकालने में ही सार्थक होता है।

महावीर ने न केवल जीवन के विविध आयामों को धार्मिकता प्रदान की है, अपितु ग्रहस्थ को मरने की भी कला सिखायी है। अद्भुत था वह आदमी जो कोई भी क्रिया तथा किसी भी क्षण को व्यर्थ नहीं होने देना चाहता था। महावीर ने एक शब्द का प्रयोग किया है वह है—'सल्लेखना' या 'समाधि-मरण'। इसका अर्थ है कि जब व्यक्ति मृत्यु के समीप हो तो वह साधना में उतर जाये। ममत्व का त्याग कर यह चिंतन करे कि मेरी आत्मा अब नयी यात्रा प्रारम्भ कर रही है अतः उसके लिए अपने परिणामों को विशुद्ध रखूं। जीवैषणा का त्याग करता हुआ वह क्रमशः निरहंकार हो जाय। ऐसा करने पर व्यक्ति को अगले जन्म में साधना करने के लिए समुचित वातावरण की प्राप्ति हो सकती है।

श्रावक जैसे-जैसे व्रतों का पालन करता जाता है, वैसे ही उसकी आत्मा की निर्मलता बढ़ती जाती है। उसके विकास की श्रेणियां बनती जाती हैं।

श्रमण-धर्म में श्रावक की ऐसी ग्यारह श्रेणियां मानी गयी हैं, जिन्हें प्रतिमाएं कहा गया है। प्रथम दर्शन प्रतिमा है, जिसमें व्यक्ति अपनी दृष्टि को आत्म-कल्याण के मार्ग पर स्थिर करता है। द्वितीय व्रत प्रतिमा में वह पूर्वोक्त बारह व्रतों की साधना प्रारम्भ करता है। तृतीय सामायिक प्रतिमा में वह ध्यान एकाग्र करने योग्य हो जाता है। चतुर्थ प्रोषधोपवास प्रतिमा उसको 'उपवास' आदि का अभ्यास कराती है। पांचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा में वह हिंसादि कार्यों से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है। छठी प्रतिमा में वह रात्रि-कालीन भोजन इसलिए नहीं करता क्योंकि इससे वह कई दोषों से बच जाता है। सातवीं ब्रह्मचारी प्रतिमा में वह मैथुन से विरत हो जाता है। आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमा में वह गृहस्थी की आजीविका आदि से मुक्त हो जाता है। नवीं परिग्रह-त्याग प्रतिमा में वह वस्तुओं के प्रति अपनी मूर्च्छा को तोड़ लेता है। दसवी प्रतिमा मे वह परिवार के लोगों से परामर्श करना भी छोड़ देता है। तथा ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा में व्यक्ति साधु होने की तैयारी में हो जाता है। इसके बाद या तो वह गृहस्थ-जीवन में रहकर साधु जैसा रहता है या फिर पूर्णतया साधु की वृत्ति अपना लेता है। एक दो विशेषताओं को छोड़कर।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि महावीर ने गृहस्थ को समाज में रहते हुए भी आत्मकल्याण करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया है। यह अब उसकी साधना पर निर्भर है कि वह कितना आत्मानुरागी एवं मोक्षमार्ग का पथिक बनना चाहता है। एक बात और है कि श्रावक के इस गृहस्थधर्म में अनेक व्रत व श्रेणियां होते हुए भी यदि किसी व्यक्ति का आत्मबोध अत्यन्त प्रबल है तो वह सीधे साधु भी हो सकता है। अतः महावीर द्वारा प्रणीत आचार सम्बन्धी व्यवस्थाएं वहीं तक सार्थक हैं जब तक वे आत्मकल्याण के मार्ग को प्रशस्त करें। अन्यथा उनका पालन करना कोई आग्रह नहीं है।

श्रावकधर्म की अंतिम श्रेणी से मुनिधर्म प्रारम्भ होता है, जिसमें आत्म-बोध का पूर्ण विस्फोट होता है। आत्मा एवं शरीर की भिन्नता का स्पष्ट अनुभव तथा निर्मल ज्ञान की प्राप्ति मुनिधर्म के लिए आवश्यक है। इस

अवस्था में मुनि के आचरण से मूलभूत पाँचों व्रतों की पूर्णता का बोध होताहै। वह इतना अपरिग्रही एवं निरहकारी हो जाता है कि आत्मकल्याण के मार्ग में नग्न विचरण कर सकता है। उसका दिगम्बरत्व इस बात का साक्षीहोता है कि इस व्यक्ति ने अपनी सभी आवश्यकताएं जगत् पर छोड़ दी हैं। सुरक्षा के प्रति यह पूर्ण अभय है। इसके द्वारा साधे जाने वाले व्रत महाव्रत कहलाते हैं, क्योंकि वह उनकी पूर्णता के साथ उन्हें पालन करता है। उसकी अहिंसा प्राणिमात्र तक विकसित हो जाती है। वह जगत् के सत्य भेदविज्ञान को पहिचान लेता है। उसकी मौलिकता उसके व्यक्तित्व से झलकती है। उसकी समस्त शक्तियां आत्मध्यान को निर्मल करती है। तथा वह अपनी आत्मा के अतिरिक्त और किसी का स्वामी नहीं होता है।

मुनि के इस स्वरूप को विकसित करने के लिए तथा उसकी सुरक्षा के लिए कुछ अन्य नियम भी हैं, जिनका महावीर के धर्म में विधान है। वह पांच 'समितियों' का पालन करता है। तीन 'गुप्तियों' से रक्षित होता है तथा बारह 'अनुप्रेक्षाओं' में अपने चित्त का शोधन करता है। इनके गर्भित अर्थ को भी जानें।

'समिति' का प्राचीन अर्थ था शासन पर नियन्त्रण। महावीर ने उसे आचरण पर नियन्त्रण के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सावधानीपूर्वक अहिंसक शैली में गमन ईर्यासमिति है। सम्प्रेषण का माध्यम भाषा पर नियमन भाषा-समिति है। एषणा-समिति व्यर्थ की आकांक्षाओं और मूर्च्छा से बचाती है। लेन-देन का व्यवहार इतनी सावधानी से करना कि किसी जीव का घात न हो तो वह आदान निक्षेपण समिति है। तथा उत्सर्ग समिति प्रत्येक कार्य को उसके निश्चित एवं उपयुक्त स्थान पर करने की प्रेरणा देती है। इससे सामाजिक शालीनता भी बनी रहती है।

गुप्तियों का कार्य कर्मों के आश्रवद्वारों पर नियन्त्रण रखना है। अत मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों के प्रति सावधान एवं अप्रमादी रहना मुनि के लिए अनिवार्य है तो श्रावक गृहस्थ के लिए आवश्यक भी।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है पुनः-पुनः तत्वज्ञान का अन्वेक्षण। इससे योग के लिए अनासक्ति भावना का विकास होता है। क्षणभंगुरता, अशरण, संसार

भ्रमण एकाकीपन, आत्मा एवं शरीर आदि की भिन्नता, अशुचिता, कर्मों के आश्रव, संवर, निर्जरा, लोकदर्शन, आत्ममार्ग की दुर्लभता एवं सच्चे धर्म के स्वरूप आदि का चिन्तन करते रहने से मुनि अपने को पहिचानने में सक्षम हो जाता है। अतः उसे अपनी धार्मिक प्रवृत्ति में दृढ़ता व स्थिरता प्राप्त होती है। धर्म के स्वरूप को वह उपलब्ध करने का प्रयत्न करने लगता है।'

••

२८. लोक-धर्म के प्रणेता

'प्रिय कलाकारों ! जानता हूँ जीवन की कथा और जीवन का दर्शन दोनों एक होते हुए भी उनके प्रस्तुतीकरण में भिन्नता आ जाती है। आपने जितने चाव से भगवान महावीर की जीवनकथा सुनी, हो सकता है उतनी उत्कंठा अब उनके धर्म व दर्शन की व्याख्या सुनने में न हो। यह अस्वाभाविक नहीं है। धर्म व दर्शन सुनने-कहने के लिए कम समझने व करने के लिए अधिक उपयुक्त है। इनमें जो उतरना चाहते हों उन्हें तो अवश्य रस आने लगता है, किन्तु इनकी सार्थकता यह भी है कि यदि एक बार इनके स्वरूप का श्रवण हो जाय तो जीवन की दृष्टि तो बदल ही जाती है, भले आचरण बदलने में समय लगे। अतः जिन्हें महावीर के जीवन का यह अध्याय रुचिकर न लगे वे उठकर चले जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। इससे एक सम्भावना कम से कम बनी रहेगी कि कभी आप इसकी रसानुभूति के लिए लौट सकते हैं। किन्तु यदि आप परवश यहां बैठकर इसे सुनते रहे तो आप के श्रावक होने की सम्भावना भी नहीं रह जाती। महावीर के धर्म में दुहरे व्यक्तित्वों की कोई सार्थकता नहीं है। मौलिकता और स्वतन्त्रता के वे पक्षपाती हैं।'

आचार्य कश्यप की दृष्टि शिल्पी-संघ पर एक कौने से दूसरे कौने तक घूम रही है। जहां नजर टिकती वहीं चेहरा खिले हुए कमल सा नजर आता। जलाशय-सी गहरी आंखें जिज्ञासा से भरी हुईं। वे आश्वस्त हुए अपने आचार्यत्व के प्रति। दूने उत्साह से भरकर उन्होंने देशना को आगे बढ़ाया—

'भगवान महावीर ने मुनिधर्म की व्याख्या करते हुए उनकी तपश्चर्या आदि के सम्बन्ध में जो कहा है उसे आपके समक्ष रखने के पूर्व मैं उस धर्म को प्रस्तुत करना चाहता हूं, जिसे महावीर ने लोककल्याण के लिए प्रवर्तित किया है। महावीर ने यह कहीं नहीं कहा कि वे किस धर्म का प्ररूपण कर

रहे हैं। उन्होंने धर्म के साथ हिन्दू, जैन, श्रमण आदि कोई विशेषण नहीं लगाये। यह बड़ी अद्भुत बात है धर्म के सम्बन्ध में। सामान्यत: ऐसा कम होता है। और जिसमें कोई विशेषण न हो वह धर्म लोक का ही हो सकता है। अत: महावीर धर्म के माध्यम से लोककल्याण की बात कहना चाहते थे।

धर्म की महावीर ने सबसे सूक्ष्म परिभाषा दी है—'वत्थुसहावोधम्मो'। वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। अर्थात् आत्मा के स्वभाव में से गुजरना धर्म में से गुजरना है। महावीर की साधना पूर्णता की साधना रही है। वे परम को उपलब्ध करने का उद्देश्य रखते थे। बीच में समझौता करने के आदी नहीं थे। अत: उन्होंने कहा लोक में सबसे उत्तम यदि कोई वस्तु है तो वह है केवली के द्वारा कहा गया धर्म—'केवलीपण्णत्तो धम्मोलोगोत्तमा।' ऐसे व्यक्ति के द्वारा कहा हुआ जो केवलज्ञानी है। अर्थात् जिसने आत्मा के स्वभाव को पूर्णतया जाना है, वही धर्म को कह सका है। यह इस बात का प्रमाण है कि उसके द्वारा कहा हुआ धर्म न केवल वास्तविक होगा, अपितु सर्व-कल्याणकारी भी। क्योंकि वह वीतरागता की स्थिति में कहा गया है।

महावीर द्वारा कथित धर्म कल्याणकारी ही नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ मंगल है—'धम्मो मंगलमुक्किट्ठम्'। यह मांगलिकता किस अर्थ में है, यह समझना होगा। धर्म का अर्थ है स्वयं को जानना। स्वभाव को जानने से जो परपदार्थ हैं वे अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर सकते। क्योंकि उनकी मालकियत तभी तक चलती है, जब तक स्वयं पर मालिकपना न हो। और यदि परपदार्थ का भेद समझ में आ गया तो दु:खों का आश्रव ही रुक गया। न किसी के प्रति आसक्ति और न आकांक्षा। अत: धर्म इसलिए मंगल है कि वह आनन्द का द्वार है। स्वतन्त्रता का द्वार है। परतन्त्रता के तिरोहित होते ही दुख विसर्जित हो जाते हैं।

ऐसे कल्याणकारी धर्म की अनुभूति का साधन क्या है, तो महावीर का समाधान है—'अहिंसा संजमो तवो—'। अहिंसा, संयम और तप स्वभाव को पहिचानने के साधन हैं। अनन्त आनन्द के झरने। अहिंसा का अर्थ है निरहंकारिता का बोध, मीमैषणा का विसर्जन, ममाग्रही वृत्ति तथा इतने अनुपस्थित हो जाना कि किसी का कोई हित भाव से बाधित न हो। संयम

का अर्थ है—निरन्तर श्रेष्ठतर की प्राप्ति की यात्रा। इससे जो निम्नतम है वह स्वमेव छूटता जायगा। तथा तप का अर्थ है तत्वज्ञान के भेद-विज्ञान की अनुभूति। आत्मा की ऊर्जा का पूर्ण उपयोग। इन तीनों की साधना व्यक्ति को महावीर के धर्म तक ले जाती है।

किन्तु महावीर के इस मांगलिक धर्म के और भी संस्करण हैं। महावीर की विशेषता ही यह रही है कि वे हमेशा सामने वाले की सामर्थ्य को ध्यान में रखकर बात करते थे। अतः धर्म उन शक्तियों के विकास का भी नाम है जो पंच महाव्रतों आदि से फलित होती हैं। इसे दश लक्षण वाला धर्म भी कह सकते हैं। वे दश धर्म हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं उत्तम ब्रह्मचर्य। इनके विशेष लक्षण इस प्रकार हैं।

क्रोध आदि की चरम अवस्था में शान्तप्रज्ञ बने रहने की चारित्रिक कला क्षमा है। क्षमा इस बात की द्योतक है कि आप क्रोध करने वाले की लाचारी का फायदा नहीं उठा रहे हैं। अपितु इसलिए क्षमा कर रहे हैं कि आपकी आत्मा का स्वभाव क्रोध करना नहीं है। क्षमा आपकी अभयता को प्रगट करता है। मार्दव का अर्थ है, ऐसे चित्त का विकास जो निरहंकार हो। अतः यह अहिंसा का ही विस्तार है। चित्त की करुणावान अवस्था मार्दव है। वाणी में, कर्म में एवं चित्त में मृदुता का विकास मार्दव है।

आर्जव चित्त की सरलता को कहते हैं। अचौर्य की पूर्ण स्वीकृति। किसी प्रकार के दुहरे व्यक्तित्व का प्रयोग नहीं। जो अन्तस् में वही बाहर प्रगट करना। निश्छलता और निष्कपटता आर्जव की फलश्रुति है। लोभ कषाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच-धर्म है। अनेक अशुचिताओं का नाम लोभ है। अतः उसका परिहार पावनता का प्रवेश है। सत्य जब व्यक्तिगत होता है तब व्रत कहलाता है और जब उसकी अनुभूति से आस-पास का वातावरण प्रभावित होने लगे तो वह धर्म बन जाता है। अतः निर्दोष वास्तविक मनन, कथन और आचरण को सत्यधर्म कहा गया है। अप्रमादी होना संयमधर्म की अन्विती है। संयम का विस्तार श्रेष्ठतर विशुद्धता की प्राप्ति करना है। पूर्वसंचित कर्मों के क्षय के लिए तप तेज आंच का काम

करता है। तप का अर्थ है अन्तर की शक्तियों का बाह्य प्रकाशन।

धर्म की परिभाषा में त्याग का अर्थ है, प्रयोजनहीन वस्तुओं का विसर्जन। जिन-जिन पदार्थों से परत्व का बोध होता जाय उन सबका, त्याग स्वयं को उजाले में ला खड़ा करेगा, जहां आत्मबोध की सम्भावना सघन होगी। आकिन्चन्य का अर्थ है, स्वामित्व का विसर्जन। इससे क्रमशः साधक निरापद होता चला जाता है। अन्तिम धर्म ब्रह्मचर्य इन सबकी फलश्रुति है। यहां आकर आत्मा को स्वयं में चर्या करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं होता। स्वयं की अनुभूति को उपलब्ध होना ही धर्म की प्राप्ति है। इस प्रकार इस दशविध धर्म के द्वारा आत्मा के विभिन्न गुणों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया गया है। श्रावक एवं साधु दोनों इस धर्म में उतर सकते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें कहीं कोई साम्प्रदायिकता नहीं, विशेषण नहीं। अतः आत्मकल्याण के लिए यह लोकधर्म कहलाने का अधिकारी है। लोक-धर्म का अर्थ है—जन-जन का धर्म। प्राणीमात्र के विकास का धर्म।

••

२९. वैज्ञानिक तपस्वी

'महावीर के जीवन का ध्येय जो था वह उन्होंने प्राप्त कर लिया था। जिस माध्यम से वे आनन्द की उस अवस्था तक पहुंचे थे उस मार्ग को वे प्रशस्त कर जाना चाहते थे। अतः अपने जीवन की साधना व तपश्चर्या का उन्होंने विशद विवेचन किया है। उनका यह अनुभव रहा है कि कर्मों का पूर्णतया क्षय तपश्चर्या के द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए उन्होंने तप की उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का विवेचन किया है, जिससे ध्यान के केन्द्र बदलते रहते हैं तथा आत्मा ऊर्जा से भर जाती है।

शास्त्रों में तप के दो भेद मिलते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। महावीर ने इनको एक विशेष शब्दावली प्रदान की है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एवं कायक्लेश ये बाह्य तप के छह भेद हैं। सब प्रकार के आहार का त्याग अनशन, अल्प आहार मात्र का ग्रहण करना अवमौदर्य या ऊनोदर, आहार-सम्बन्धी परिस्थितियों का नियन्त्रण करना वृत्ति-परिसंख्यान, घृतादि वस्तुओं एवं मिष्टादि वस्तुओं का नियमन करना रस-परित्याग, शून्य गृहादि एकान्त स्थान में वास करना विविक्त शैयासान तथा धूप आदि की बाधाओं को सहना एवं आसन विशेष से लम्बे समय तक ध्यान करना काय-क्लेश तप है।

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। आगम प्रणीत इनका अर्थ यह है। आलोचन, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओं में प्रवृत्त होना 'प्रायश्चित' है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की उपचार साधना में लगना 'विनय'। आचार्य, उपाध्याय आदि योग्यजनों की पीड़ा-बाधाओं में सेवा करना 'वैयावृत्य' है। धर्मशास्त्रों की वाचना आदि 'स्वाध्याय'। धन-धान्यादि एवं क्रोधादि कषायों का त्याग 'व्युत्सर्ग' है। तथा किसी वस्तु को माध्यम बनाकर आत्मा का ध्यान करना

'ध्यान' तप है।

'भद्र ! तप के सम्बन्ध में यह धारणा श्रमणधर्म के साधुओं व विचारकों के बीच अभी भी प्रचलित है। किन्तु जैसा कि आपको मैंने बताया है कि महावीर की जीवन-यात्रा गहरे रहस्यों की खोज करने की रही है तथा परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तों को नये अर्थ देने की। अतः इन बारह प्रकार के तपों द्वारा वे केवल उतना ही प्राप्त नहीं करना चाहते रहे होंगे, जितना परम्परा में प्रचलित है, बल्कि महावीर इन तपों के माध्यम से जीवन की उन ऊंचाइयों को छूना चाहते थे, जिसके लिए पुनः जन्म न लेना पड़े। अतः इन बारह तपों के अन्तरंग में उतरने के लिए भगवान महावीर की वैज्ञानिक दृष्टि को समझना होगा। यह भी देखना होगा कि श्रमणधर्म में इतनी कष्टसाध्य साधना के प्रविष्ट होने का कारण क्या है ? शरीर को इतना सताकर तप करने की परम्परा कैसे पड़ी ? इन सब पर मैं जहां तक पहुंच पाया हूं, वह आपसे कहता हूं।'

महावीर ने तप का व्याख्यान जिस रूप में किया था उसे बहुत कम लोग पकड़ पाये। क्योंकि उनके अनुभव भिन्न थे। महावीर की तप के साथ शरीर को सताने की जो बात जुड़ी उसका कारण यह है कि व्यक्ति पहले शरीर को बहुत सुख में रखता है। शृंगार करता है, खिलाता-पिलाता है, इत्यादि। किन्तु अन्त में जब उसके हाथ केवल दुख ही लगा तो यह विचार-धारा बनी होगी कि शरीर को संवारने से सुख नहीं मिला तो शरीर को कष्ट देने से अवश्य मिलेगा। अतः तप कष्टदायी हो गया। इसी प्रकार वासनाओं के दमन का तप के साथ सम्बन्ध जुड़ गया है। इस कारण से तपश्चर्या जो साधक का स्वभाव बनना चाहिए, वह आदत बनकर रह गयी है। भगवान महावीर इस विषय में बहुत सूक्ष्मदर्शी थे। उन्होंने इस बात को स्पष्ट कहा है कि यदि हम तपस्या के द्वारा अपने को उससे जोड़ेंगे जो हमारा नहीं है तो ऐसी तपस्या हमें संसार चक्र से आगे नहीं ले जायेगी। और यदि हमने अपने को उससे जोड़ा जो हम हैं तो ऐसी तपस्या अमृत का द्वार है। उन्होंने इसी तपस्या की उपलब्धि के लिए इन बारह सीढ़ियों का विधान किया है।

इन बारह तपों को एवं उनके लिए प्रयुक्त शब्दावली को थोड़ा विस्तार से समझें तो महावीर की दृष्टि अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

अनशन द्वारा शरीर को भोजन न देना मात्र अभिप्रेत नहीं है। बल्कि अनशन की क्रिया द्वारा आत्मा को पकड़ने की कोशिश करना है। शरीर की एक व्यवस्था है सामान्य भोजन करने की। अगर यह व्यवस्था बन्द कर दी जाय, तो अचानक शरीर रक्षण के लिए दूसरी व्यवस्था में जाना होता है। एक से दूसरे में जाने में कुछ क्षण लगते हैं। यही क्षण आत्मा के होते हैं। इन्हीं आत्मा के क्षणों को पकड़ना, उनमें जीना अनशन करने की सार्थकता है। जो साधक यह नहीं कर पाता वह अनशन करने का अभ्यास कर लेता है। उसकी आदत बन जाती है भूखे रहना। अतः वह कुछ उपलब्ध नहीं कर पाता।

महावीर ने अनशन को इसलिए तप कहा तथा तप के लिए चुना, क्योंकि यह सबसे अधिक सुविधापूर्ण प्रयोग है दो अतियों के बीच ठहर जाने का। इसके द्वारा महावीर चाहते थे कि तपस्वी सुख-दुख, निद्रा-जागरण, प्रेम-घृणा आदि के बीच के क्षणों में जीना सीख जाये। अनशन को महावीर ने इसलिए प्रथम रखा कि उनका चिन्तन है कि भोजन के लिए आतुर व्यक्ति काम-वासना से भरा होता है। भोजन की वासना छूटे तो आगे की बात हो सकती है। अतः उन्होंने अनशन तप द्वारा न केवल भोजन को बल्कि भोजन के चिन्तन से भी मुक्त होने को कहा है, तभी आत्मा को पकड़ा जा सकेगा। इसके प्रयोग के लिए महावीर ने स्वय अपना उदाहरण सामने रखा है। उनका जीवन सिखाता है कि अनशन का अर्थ है—अपने को प्रकृति पर छोड़ देना। जीवैषणा से मुक्ति की प्रक्रिया है यह।

अनशन की उपलब्धि है कि साधु मानसिक भूख, आदत की भूख की व्यवस्था को तोड़ता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि पेट की वास्तविक भूख क्या है। इस वास्तविक भूख, प्राकृतिक भूख को कम करना ऊनोदरी है, जो निश्चित रूप से अनशन की साधना के बाद ही सम्भव है। ऊनोदरी का अर्थ है कि जहां मन सर्वाधिक जोर मारे उसी सीमा से वापिस लौट आना। चाहे वह भूख का क्षेत्र हो अथवा अन्य इन्द्रियों का। इस प्रकार ऊनोदरी

द्वारा साधक अपनी शक्ति के अपव्यय को रोकता है। ऐसा कर पाना निश्चित रूप से तप है।

तीसरा वृत्तिसंक्षेप नामक तप इससे आगे की यात्रा है। इसका अर्थ केवल इतना नहीं है कि अपनी इच्छा से कम वस्तुओं से काम चला लेना, दो बार भोजन चाहिए तो एक ही बार खा लेना। इस प्रकार के अर्थ साधु को अन्तरंग में नहीं ले जा पाते। महावीर इसके द्वारा कुछ और कहना चाहते हैं।

महावीर का कहना है कि प्रत्येक वृत्ति को उसके केन्द्र पर संक्षिप्त कर दो। एक वृत्ति का कार्य दूसरे केन्द्र से न लो तो अपने-आप बाहर की बहुत-सी क्रियाएं बन्द हो जायेंगी। क्योंकि आपकी चेतना जिस केन्द्र पर होगी, उसी का कार्य बाहर होगा। उसके प्रति आप सजग भी रहेंगे कि क्या हो रहा है। वृत्ति संक्षेप का यही अर्थ है साधु की तपस्या में। प्रत्येक केन्द्र की आवश्यकता बहुत थोड़ी होती है, किन्तु उसमें जब बुद्धि और मन मिल जाता है तो आकांक्षा की होड़ लग जाती है। इसी आकांक्षा को रोकना तपस्वी का प्रतिपाद्य है, जो उसके मूल को पकड़ने पर ही रोका जा सकेगा। वस्तुओं की सीमा बांधने से वृत्ति-संक्षेप नहीं सधेगा। हां, वृत्ति-संक्षेप द्वारा स्वमेव वस्तुओं की आकांक्षा गिर जायेगी।

रस-परित्याग नामक इस चौथे व्रत द्वारा महावीर पूरी रस-प्रक्रिया को ही व्यक्त करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि वस्तु, जिह्वा, मन एवं मन के साथ चेतना के तादात्म्य इनमें से रस किसमें होता है, इसकी पहिचान जरूरी है। अनेक अनुभवों से यह ज्ञात होता है कि यदि चेतना का सम्बन्ध मन से न हो तो वस्तु, जिह्वा और मन के होते भी किसी वस्तु में रस नहीं आता। अतः चेतना का मन के साथ सहयोग ही रसास्वादन में कारण है। अतः तपस्वी की चौथी साधना यह है कि वह चेतना और मन के सम्बन्ध को समझे। यह प्रयत्न करे कि वह चेतना और मन के क्षणिक अलगाव को भी देख सके। मन की आज्ञा मानना जिस दिन उसकी चेतना बन्द कर देगी उसी दिन वह सभी रसों से ऊपर हो जायेगा। अतः मन और चेतना के सम्बन्ध को तोड़ने का जो बोध है उसे प्रगाढ़ करने का नाम ही रस-परित्याग

है। सभी वस्तुओं के होने पर भी मन की खबर से चेतना को पृथक् रखना ही रसबोध से मुक्ति है। अतः रस परित्याग की साधना है—प्रत्येक कार्य के प्रति चेतना का साक्षीभाव।

'काय-क्लेश' द्वारा महावीर ने बहुत गहरी बात कही है। एक सत्य का उद्घाटन किया है। तप प्रारम्भ करने के पूर्व उन्होंने जो चेतना और शरीर के द्वन्द्व को तोड़ने की बात कही थी, उसकी पुष्टि अन्य तपों से वे कर रहे हैं। इस तप द्वारा वे कह रहे हैं कि काया क्लेश है। शरीर ही दुख है, इस बात को साधक अच्छी तरह समझ जाय। क्योंकि जब वह चेतना के भिन्न होने की बात सोचेगा तो शरीर से अनेक दुख बिखरने प्रारम्भ हो जायेंगे। उन दुखों को देखकर साधु घबड़ाये नहीं, अपितु इसे अनिवार्य मान ले कि शरीर से दुख ही होंगे तो वह साधना में आगे बढ सकेगा। इससे शारीरिक सुखों की आकांक्षा का त्याग अपने आप होने लगेगा। यह पता ही न चले कि शरीर दुख के सिवा और भी कुछ है, चिंतन की इस अवस्था की प्राप्ति इस तप का उद्देश्य है।

बाह्य तपों का अन्तिम सूत्र है—'विविक्तशय्यासन'। अर्थात् एकान्तवास या संलीनता। यह एक ऐसा तप है, जो बाहर से भीतर की यात्रा करने में सेतु का काम करता है। इसका आशय गहराई से जानने योग्य है। सामान्यतया इस तप में साधक अपने शरीर के बाह्य हलन-चलन को रोकने का अभ्यास करता है। ऐसा योग साध लेता है कि बाहर का प्रत्येक अंग निश्चल हो जाता है। किन्तु इतने मात्र से यह तप पूरा नहीं होता है। महावीर कहते हैं कि तप करना पूर्णरूपेण ईमानदार बनना है। जो भीतर है, वही बाहर प्रगट हो तभी तप का आनन्द है। अतः इस संल्लीनता तप द्वारा न केवल बाहर का हलन-चलन रुके, अपितु साधक को भीतर भी शान्त होना चाहिए।

संल्लीनता में उतरने के लिए महावीर ने कुछ सूत्र दिए हैं। वे कहते हैं कि सर्वप्रथम अपने शरीर की विभिन्न भंगिमाओं का सम्यक् निरीक्षण होना आवश्यक है। इससे पता चलेगा कि क्रोध, प्रेम एवं तनाव की स्थितियों में चित्त कितने रूप ग्रहण करता है। जहां साधक ने क्रोध के चित्त का अध्ययन करना प्रारम्भ किया वहीं से क्रोध से सम्बन्ध टूटने लगेगा। शान्ति की शक्ति

बढ़ने लगेगी ।

दूसरा प्रयोग संल्लीनता के साथ यह है कि साधक सद् एवं असद् दोनों वृत्तियों में एक साथ अपने मन को दौड़ा दे और स्वयं दृष्टा बन जाय । इससे बड़ा फायदा होगा । मन पर जब एक वृत्ति हावी होती है तो चेतना उसमें दब जाती है । मन जो चाहे सो करा लेता है । किन्तु जब विपरीत वृत्तियों में मन फंस जाय तो चेतना स्वतन्त्र हो जाती है । वही उसकी संल्लीनता है । इसी संल्लीनता की स्थिति में ही आत्मा से साक्षात्कार सम्भव है । चित्त की ऐसी दशा इस समय हो जाती है कि शरीर पर इसका कोई प्रभाव नहीं दिखता, कोई हलन-चलन नहीं । भद्र ! श्रीकण्ठ ! तुम सबने महावीर अथवा किसी तीर्थङ्कर की मूर्ति देखी होगी । तुम पाओगे कि उनकी प्रतिमा में कोई रग-पुट्ठे आदि नहीं बनाये गये हैं । हाथ-पैर की मांस-पेशियां एकदम सपाट हैं । इस सबका मात्र इतना कारण है ये प्रतिमाएं तीर्थङ्करों की संल्लीनता की हैं । जब उनके बाहर-भीतर एकदम शान्ति थी । पूर्ण स्थिरता । इस स्थिरता की स्थिति को प्राप्त करने से ही अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो सकती है । आभ्यन्तर तप किए जा सकते हैं ।

'भद्र चित्रांगत ! बहुत दिनों से मैं गुहा के भीतर नहीं गया । सब कुछ सुरक्षित है न वहां ?'

'आचार्यप्रवर ! सबकुछ सुरक्षित और स्थायी भी । आप चिन्ता न करें गुरुदेव ! आपकी शिष्य परम्परा सजग ही नहीं, सर्जनात्मक भी है । किन्तु यह पहली बार पता चला कि हम ऐसे आचार्य के अन्तेवासी हैं, जो न केवल दर्शन के व्याख्याता हैं, अपितु दर्शन और ज्ञान के धारी भी । आचार्य चारित्र को भी प्रगट होने दें । चलने दें कथा ।'

'आयुष्मान्, तुम्हारी अब सुनने की मनःस्थिति नहीं रही । अपनी व अपने गुरु की श्लाघा आत्मबोध तक नहीं ले जाती । मुझे अब विराम दें । अभ्यन्तर तपों की चर्चा प्रातःकाल करूंगा ।'

क्षणभर बाद में शिल्पीसंघ बिखर गया । अनुशासन, विनय का साक्षात् प्रतीक ।

'इस मंगल प्रभात बेला में तपस्वी महावीर को प्रणाम । कल हुए बारह

तपों पर चर्चा कर रहे थे। अभ्यन्तर तप का प्रथम सूत्र है—'प्रायश्चित'। सामान्यतया इसका अर्थ किया जाता है कि अपने द्वारा प्रमादवश की गयी भूलों की क्षमायाचना। भूलों के प्रति पश्चाताप। किन्तु महावीर को इसमें कहीं तपश्चर्या नहीं दिखती। वे कहते हैं कि प्रत्येक शब्द के सही अर्थ को पकड़ो। प्रायश्चित और पश्चाताप में बहुत अन्तर है। पश्चाताप व्यक्ति को उसके द्वारा की गयी भूलों के प्रति होता है, जबकि प्रायश्चित व्यक्ति को स्वयं गलत होने के कारण होता है। पश्चाताप करने वाला अपनी भूल सुधार सकता है, किन्तु व्यक्ति वह वही बना रहेगा। जबकि प्रायश्चित जिसे होता है वह व्यक्ति ही बदल जाता है। इसलिए महावीर का अनुभव रहा है कि जो व्यक्ति अपनी भूलों के लिए क्षमा मांगता है वह दूसरे अर्थों में अपने अहंकार की रक्षा करता है। अतः उससे पुनः वही भूल होने की सम्भावना है। प्रायश्चित में ऐसा नहीं होता। प्रायश्चित का अर्थ है पूरे व्यक्ति का परिवर्तन। भूल करने वाला व्यक्ति ही विसर्जित हो गया इसमें। अतः प्रायश्चित जागरण का संकल्प है। गलत आदमी ही चला गया तो अब गलत कार्य ही कहां से होंगे। अतः प्रायश्चित द्वारा महावीर ने अभ्यन्तर तप में सही आदमी को ही प्रवेश होने का अधिकार दिया है। अभ्यन्तर तप में जाने की पहली शर्त है आदमी की बदलाहट।

प्रायश्चित और पश्चाताप में एक अन्तर और है। प्रायश्चित व्यक्तिगत मामला है। वह स्वयं के समक्ष हो सकता है। आपको अनुभव हुआ कि आप गलत हैं, बस उसी समय से आप बदलना प्रारम्भ कर देंगे। जबकि पश्चाताप दूसरे पर निर्भर है कि वह क्षमा करे न करे। अतः पश्चाताप परमात्मा के समक्ष ही हो सकता है। यहां व्यक्ति परतन्त्र हो जाता है। महावीर की साधना व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास की रही है। अतः उन्होंने प्रायश्चित को प्रथम अभ्यन्तर तप स्वीकार किया। इससे साधक तथ्यों को पूर्णरूप से स्वीकार करना सीखता है, उनसे भागना या किसी और पर थोपना नहीं। वास्तव में पश्चाताप के कारण ही ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार हुआ। क्योंकि वही अन्तिम क्षमा देने वाला है। महावीर को इसको आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि प्रायश्चित द्वारा वह 'व्यक्ति स्वयं क्षमाशील' हो सकता है।

'विनय' अभ्यन्तर तप की दूसरी सीढ़ी है। यह प्रायश्चित का अगला चरण है। जो व्यक्ति अपनी गलती स्वयं स्वीकार कर ले वही दूसरों को विनय दे सकता है। सामान्यरूप से अपने से योग्य लोगों को आदर आदि देना विनय माना गया है। किन्तु साधु का इसमें तप कौन-सा है? श्रेष्ठजनों को विनय देना तो उसकी विवशता है। इसमें उसकी साधना कहां रही। बल्कि इससे एक दिक्कत और यह हुई कि जो बड़ों को विनय देगा वह छोटों से विनय लेने का इन्तजाम भी करेगा। अतः वह तो गृहस्थ से भी कम हो गया।

महावीर ने विनय का विधान विशेष प्रयोजन से किया है। वे चाहते हैं कि श्रेष्ठ और निम्न का जो भेद है वह मिटना चाहिए। भेद रहने से दो नुकसान हैं। जिसे आप श्रेष्ठ कहते हैं, उसके अहंकार को बढ़ाते हैं विनय देकर। उसी प्रकार आप जब विनय स्वीकार करते हैं तो आपका अहंकार बढ़ता है। इसलिए इन दोनों अहंकारों से बचना साधु के लिए आवश्यक है। साधु की विनय तो वह है, जब उसे कहीं निकृष्टता दिखाई न दे। अतः विनय बिना शर्त के ही हो सकती है। क्योंकि किसी की श्रेष्ठता का कोई मापदण्ड नहीं है। अतः इस विनय नामक तप द्वारा महावीर ने निरन्तर श्रेष्ठतर होते रहने की प्रेरणा दी है। विनय को बेशर्त मानकर महावीर ने यह कहना चाहा है कि साधक अब यह विचारे कि मैंने अपने को सबसे तोड़ लिया है। मैं जितना स्वतन्त्र हूं, उतना ही अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी भी। विनय से यही फलित होगा। जैसे-जैसे भीतर जाने की यात्रा होती जायेगी साधक का बाह्य जगत् से सम्बन्ध टूटता जायेगा। प्रायश्चित में वह स्वयं अपना निर्णायक बना तथा विनय द्वारा उसने अपने अहंकार को विसर्जित किया है।

तीसरा अभ्यन्तर तप है—'वैयावृत्य' इसका अर्थ वृद्ध साधुजनों आदि की सेवा करना माना गया है। किन्तु साधक के लिए इसका गहरा अर्थ है। उसकी सेवा किसी प्रयोजनवश नहीं होती। वह भविष्य में पुण्यों का संचय करने के लिए सेवा नहीं करता। अपितु जिनकी सेवा कर रहा है, उनसे उऋण हो रहा है। अतः जिस सेवा में सेवक बीच में न आये वह वैयावृत्त है। तप में ऐसी सेवा ही सम्मिलित होगी, जो किसी के लिए हो जाय और करने वाले का पता ही न चले। महावीर ने वैयावृत्य को इसीलिए तप कहा है कि साधु

इतना बड़ा कार्य करे और उसका कर्ता न बने, यह बहुत कठिन है। आन्तरित तप यह इसलिए है कि इसका किया जाना केवल आपको ही पता है।

'स्वाध्याय' द्वारा महावीर ने जीवन के सत्य को उद्घाटित किया है। हम जगत् के अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन करते और जानते हैं। किन्तु जो जानने वाला है उसे कभी पहिचानने का प्रयत्न नहीं करते। वस्तुतः जानने में दो ही वस्तु महत्त्वपूर्ण होती हैं—ज्ञेय और ज्ञाता। इनमें से ज्ञेय को जानना विज्ञान है और ज्ञाता को जानना धर्म है। मात्र ज्ञेय को ही जानते रहने से सत्य पकड़ में नहीं आयेगा। अतः महावीर ने ऐसे ज्ञानी को मिथ्याज्ञानी कहा है। अर्थात् निस्प्रयोजन पदार्थों को जानने वाला। ज्ञाता को जानने वाला ही सम्यग्ज्ञानी होगा। अतः अपनी अनुपस्थिति को तोड़ने का नाम स्वाध्याय है। और जब आप उपस्थित हों तो आपके परिवेश में कुछ गलत नहीं घट सकता। इसीलिए महावीर जब स्वाध्याय में होते थे तो उनके सम्पर्क में आने वाले दुष्ट जीव भी शान्त हो जाते थे। क्योंकि महावीर की उपस्थिति में कुछ गलत नहीं हो सकता था। महावीर जो बार-बार कहते हैं कि जागते हुए जिओ, उसका आशय यही है कि स्वाध्याय में जिओ। अतः महावीर ने साधक से यह नहीं कहा कि तुम सही करो। यह कहा कि जागते हुए करो। गलत कर ही नहीं सकते।

महावीर ने तपों की व्याख्या करते हुए दश तपों के बाद 'ध्यान' तप का क्रम रखा है। अतः जब व्यक्ति इतने तपों में जीने लगे, उसकी आत्मा इतनी जानी-पहचानी हो जाए तब उसे ध्यान करना कठिन नहीं होगा। किन्तु ध्यान को समझना और समझाना बड़ा कठिन है। इसलिए महावीर पहले गलत ध्यानों की व्याख्या करते हैं, जिससे साधक उन्हीं में फँसकर न रह जाय। असली ध्यान तक उसे पहुंचना है।

शास्त्रों में ध्यान के चार भेद कहे गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। अनिष्ट के संयोग, इष्ट के वियोग, दुःख की वेदना तथा भोगों की अभिलाषा से जो संक्लेश भाव होते हैं उन्हें बदलने के लिए जो चिंतन किया जाता है वह सब आर्त ध्यान है। अनिष्ट कार्यों की प्राप्ति तथा जीवों के घात-प्रतिघात से सम्बन्धित ध्यान को रौद्र ध्यान कहते हैं। इनसे व्यक्ति तो

दु:खी होता ही है, उनके प्रभाव से समाज भी अशांत होता है। अतः महावीर ने इन ध्यानों को अशुभ और त्याज्य कहा है।

महावीर ने ध्यान के माध्यम से स्व एवं पर की सुन्दर व्याख्या की है। उनका कहना है कि जब तक हम अपने से बाहर किसी पर ध्यान लगाते रहेंगे। हम ध्यान के वास्तविक अर्थ को नहीं पा सकेंगे। क्योंकि बाहर किसी भी वस्तु पर चित्त को लगाना ध्यान नहीं, प्रार्थना है। इसीलिए जिन्होंने अपने से भिन्न परमात्मा को माना वे ध्यान में नहीं जा सके। उन्होंने प्रार्थना को विकसित किया। ध्यान और प्रार्थना दो अलग-अलग बातें हैं। ध्यान में कोई निवेदन नही है, स्व की पहिचान है, जबकि प्रार्थना में दूसरे की सहायता की मांग है। अत: ध्यान की प्राप्ति के लिए ही महावीर ने ईश्वर के अस्तित्व की चिंता नहीं की।

ध्यान के स्वरूप के सम्बन्ध में तथा उसकी प्रक्रिया के विषय में महावीर बहुत स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि ध्यान का अर्थ है—जो मैं हूं, जैसा मैं हूं उसी में ठहर जाना। ध्यान शब्द से यह सोचना पड़ता है कि किसका ध्यान? अत: महावीर ने ध्यान शब्द का बहुत कम प्रयोग किया है। इसके लिए उन्होंने दो महत्वपूर्ण शब्द चुने हैं—प्रतिक्रमण और सामायिक। प्रतिक्रमण का अर्थ है—अपनी चेतना को बाह्य जगत् से वापिस बुला लेना और सामायिक का अर्थ है—उस लौटी हुई चेतना में रम जाना। महावीर ने इस स्थिति के लिए बहुत सुन्दर शब्द का प्रयोग किया है—'आत्मरमण'। आत्मा में रमना ही महावीर का ध्यान है।

जगत् के अन्य विज्ञानों से भी यह प्रमाणित होता है कि चेतना की गति समय में होती है। अतः महावीर ने आत्मा को समय कहा और आत्मा की गति में ठहर जाना 'सामायिक' कहलाया। महावीर ने इसे स्पष्टतया समझाते हुए कहा है कि शरीर की समस्त गतियों का ठहर जाना आसान है और चित्त की सारी गति का ठहर जाना ध्यान। चेतना की गति में ठहर जाने की प्रक्रिया क्या है। इसे महावीर ने धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा समझाया है। ये ध्यान की उत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं, जिनकी फलश्रुति आत्म-साक्षात्कार होती है।

कायोत्सर्ग का अर्थ है—काया का विसर्जन। ध्यान जब परिपूर्ण शिखर पर पहुंच जाता है तो काया खो जाती है। ऐसी आत्मानुभवी चेतना का काया से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। अर्थात् यह वह स्थिति है जिसमें शरीर का अन्तिम बार उत्सर्ग हो जाता है। आत्मा अशरीर हो जाती है। अब कभी शरीर धारण नहीं करेगी। यद्यपि आयु पूर्ण होने तक यह अन्तिम शरीर उस चेतना के साथ रहता है। जैसे स्वयं महावीर ध्यान के शिखर को पहुंचने के बाद भी तीस वर्ष तक शरीर धारण किए हुए भ्रमण करते रहे। किंतु अब उनके लिए शरीर का कोई अर्थ नहीं रह गया था।

कायोत्सर्ग मृत्यु के लिए सहज स्वीकृति का भाव है। साधक को यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके शरीर के साथ अब अन्तिम बार क्या घटने वाला है। उस घटना को घटित देखते रहना ही ध्यान की उपलब्धि है। ऐसी अवस्था, जहां से वापिसी की अब कोई सम्भावना नहीं है। जहां केवल ज्ञान रह जाता है, काया नहीं। अतः कायोत्सर्ग विस्फोट है। आत्मा और शरीर के सर्वथा और सर्वदा के लिए अलग होने का। महावीर यह नहीं कहते कि तुम अपनी काया का उत्सर्ग कर दो। क्योंकि इस स्थिति में काया अपनी रह ही नहीं पाती। अतः द्रष्टा के रूप में उसके साथ क्या होता है इसे देखते रहना कायोत्सर्ग है। यही अमरत्व की प्राप्ति है, मोक्ष की सुखानुभूति।

• •

३०. प्रशान्त ऊर्ध्वगामी

'इन बारह तपों की साधना द्वारा भगवान महावीर मुक्ति को प्राप्त हुए। पूर्वजन्मों से उनकी चेतना निरन्तर ऊपर को उठती जा रही थी। इस जन्म में उसने केवलज्ञान की प्राप्ति द्वारा निर्मलता के सबसे ऊँचे शिखर को छू लिया था। पूर्णरूप से उनकी चेतना अमूर्च्छा की स्थिति में आ गयी थी। जागृत हो गयी थी। अशुभ, शुभ की यात्रा करते हुए उसने शुद्धता का बाना पहन लिया था।

इस प्रकार जीव, अजीव से लेकर मोक्ष तत्त्व की यात्रा की व्याख्या मैंने की, जिसमें महावीर का तत्त्वज्ञान, कर्म-सिद्धान्त, आचार-मीमांसा, तप-ध्यान आदि सभी सम्मिलित हैं। इस पूरी यात्रा को, श्रमणधर्म के सात तत्त्वों को एक सुन्दर रूपक द्वारा समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए कोई एक व्यक्ति नाव द्वारा नदी पार कर रहा है। थोड़ी दूर जाने पर उस नाव में कोई एक छेद निकल आता है। उससे नाव में पानी भरने लगता है। जब पानी कुछ अधिक हुआ तो नाव डगमगाने लगी। वह व्यक्ति भयभीत होकर नाव से चिपक गया। किन्तु तभी उसे दिखा कि नाव में पानी एक छेद द्वारा आ रहा है। उसने तुरन्त कपड़े व मिट्टी द्वारा उस छेद को इतना बन्द कर दिया कि अब पानी आना रुक गया। लेकिन पूर्वसंचित पानी द्वारा ही वह नाव अभी भारी है। भंवर में फँसने के लिए आतुर है। अतः अब उस व्यक्ति ने धीरे-धीरे हाथों से उस पानी को उलीचना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय बाद नाव हलकी हो गयी। उसके सहारे वह नदी से पार हो गया।

इस दृष्टान्त में महावीर द्वारा कथित सात तत्त्वों की व्याख्या छिपी हुई है। नाव और व्यक्ति शरीर और आत्मा हैं। नदी पार करना, संसार से पार होना है। छेद से पानी आना आस्रव है कर्मों का और पानी से नाव भर जाना कर्मों का बन्ध है। नाव का डगमगाना कर्मों के दुख हैं। छेद का पता लगाकर

उसे बन्द कर देना संवर है तथा पानी बाहर निकाल देना कर्मों की निर्जरा है। नाव का हलके होने के कारण पार उतर जाना आत्मा की कर्मों से विमुक्ति है। महावीर इसी प्रकार प्रशान्त होकर ऊर्ध्वगमन कर गये थे।

महावीर की मोक्ष, निर्वाण की धारणा को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त और आपको सुनाता हूं। एक सरोवर जल और कीचड़ से भरा हुआ है। उसमें अनेक श्वेतकमल विकसित हैं। सबके बीच में खिला है एक विशाल एवं अतिशय श्वेत पुण्डरीक। उस तालाब में पूर्व दिशा से एक पुरुष आता है। उस पुण्डरीक को देखकर उसे प्राप्त करना चाहता है। किन्तु जैसे ही उसे लेने के लिए सरोवर में प्रवेश करता है, कुछ दूर जाकर वहां के कीचड़ में फँस जाता है। वापिस लौटना असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार अन्य तीन दिशाओं से आने वाले व्यक्तियों की भी होती है। अन्त मे एक वीतरागी और संसार संतरण की कला का विशेषज्ञ भिक्षु वहां आता है। वह कमल एवं उन फँसे हुए व्यक्तियों की दशा को देखकर स्थिति को हृदयंगम कर लेता है। अतः वह किनारे पर खड़ा होकर ही आवाज देता है—'हे पुण्डरीक, उड़कर यहां आ जा।' पुण्डरीक उसके पास आ जाता है।

इस दृष्टान्त में इन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है—यह मनुष्यलोक वह सरोवर है। उसका जल जीवों का शुभाशुभ कर्म है। कामभोग हैं कीचड़। मनुष्य समुदाय उसके अन्य कमल हैं तथा पुण्डरीक है—चक्रवर्ती राजा। चार दिशाओं से आये हुए पुरुष हैं चार मतों के प्रतिपादक विचारक, जिनको अपनी सामर्थ्य एवं संसार की वस्तुस्थिति का पता नहीं है। वह अतिशय प्रज्ञा का धनी पुरुष है साधु। सरोवर का किनारा है—धर्मतीर्थ। भिक्षु की आवाज धर्मकथा है तथा पुण्डरीक का उस दलदल भरे सरोवर से उड़ जाना है, निर्वाण की प्राप्ति।

इस प्रकार महावीर का निर्वाण पाना, चेतना के दर्शन और ज्ञानगुण का ऊपर उठ जाना है केवलज्ञान के बाद वे जनकल्याण के लिए नगर-नगर एवं ग्राम-ग्राम घूमते रहे कि जो उन्होंने उपलब्ध किया है, उससे दूसरे प्राणी भी लाभान्वित हों।

'आचार्यप्रवर! यह अनुभूति तो होती है कि महावीर ने मुक्ति प्राप्त की

होगी। किन्तु उस मोक्ष अथवा निर्वाण का स्वरूप क्या है ? तथा क्या मुक्ति के बाद कारणवश वापिस लौटना सम्भव है ? इनको जानने की जिज्ञासा है।'

'भद्र चित्रांगद ! महावीर क्या, प्रत्येक महापुरुष के साथ यही होता है कि हम बिना महावीर बने महावीर की प्रत्येक अनुभूति को जानना चाहते हैं। और जब नहीं जान पाते तो घोषणा कर देते हैं कि मुक्ति का मार्ग कठिन है अथवा अमुक महापुरुष की वाणी दुरूह है इत्यादि। अतः पहले हमें इन स्थितियों में उतरने का प्रयत्न करना चाहिए, जहाँ से कम से कम तत्वज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न तो कर सकें, जानना तो दूर। मोक्ष अथवा निर्वाण इस प्रकार की स्थिति है, जिसका ज्ञान स्वानुभूति से ही हो सकता है। किन्तु तीर्थङ्कर महावीर ने इसे भी व्यक्तिगत नहीं रखा। वे प्रत्येक रहस्य को चौराहे पर खड़ा करने आये थे। अतः उन्होंने अपनी प्रत्येक अनुभूति को प्रगट किया। लेकिन उसे वे ही समझ पाये या समझ पायेंगे जो कम से कम श्रावक तो हों।

निर्वाण के आनन्द को छोटे रूप में जाना जा सकता है। मोक्ष उस स्थिति का नाम है, जहां सारे बन्धन एवं असद्वृत्तियां तिरोहित हो जाती हैं। एक उदाहरण लें। हम क्रोध करते हैं। उसके कई कारण हो सकते हैं। किन्तु जब हम जान जाते हैं कि क्रोध करना आत्मा के स्वभाव के प्रतिकूल है तो हम उससे लौटने लगते हैं। जब पूर्ण रूप से क्रोध चला जाता है तो एक अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि हम क्रोध एवं शान्ति इन दोनों के अनुभवों से परिचित हों। जब इन अनुभवों में आपको अन्तर दिखने लगेगा आप देखेंगे कि शान्ति आपके लिए कितनी कीमती हो जाती है।

यह एक असद्वृत्ति से मुक्त होने का आनन्द है। इसी प्रकार साधु जब सभी आसक्तियों और द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है तो उसका आनन्द उसी अनुपात में बड़ा हो जाता है। यही मोक्ष की अनुभूति है। कुछ दिन आप कारागृह में रहकर देखें। जिस दिन आप वहां से मुक्त हों उस दिन का भी आनन्द देखें तो आपको मुक्ति के आनन्द का अनुमान होने लगेगा। अतः बंधन से मुक्ति की ओर जो यात्रा है, वह अचेतन से चेतन की ओर यात्रा है। चेतनता की पूर्ण उपलब्धि ही मोक्ष है।

मुक्त होकर जहां तक लौटने का प्रश्न है वह सम्भव नहीं है। कोई आत्मा स्वभाव में आकर फिर कर्म बन्धन नहीं करती। किन्तु कुछ आत्माएं चाहें तो मुक्ति के बाद भी एक जीवन के लिए लौट सकती हैं। किन्तु यह लौटना भिन्न प्रकार का है। यह उनकी शक्ति की ऊर्जा का विस्फोट है। उन्होंने अपनी साधना में इतनी शक्ति सचित की है कि मुक्ति के बाद भी उसका व्यय होता रहता है। अतः वह संसार में कुछ भोगने नहीं, बल्कि जो अतिरिक्त उपलब्ध कर लिया है उसे बांटने आता है। ऐसी आत्मा तीर्थङ्कर होती हैं। अतः यह भी कह सकते हैं कि तीर्थङ्कर ही मुक्ति के बाद लौटते हैं। वह भी जनकल्याण के लिए। यह कहने कि वे मुक्ति का आनन्द जान गये हैं। अतः उनका संसार में आना चक्र में फंसना नहीं है। क्योंकि चक्र से छलांग लगाकर ही उन्होंने मुक्ति पायी है। इस प्रकार की आत्माएं अपने जीवन में तो कल्याण करती ही हैं, किन्तु कुछ ऐसा भी छोड़ जाती हैं, जिससे उनकी उपलब्धि से निरन्तर प्रेरणा मिलती रहती है। महावीर ऐसी ही आत्मा थे। आज भी उनके सानिध्य से प्रभावित हुआ जा सकता है।

'कलाकार बन्धुओ, महावीर के परिनिर्वाण की कथा के बाद उनकी शिष्य-परम्परा एवं उनके आत्मबोधक उपदेशों की बात मैंने अभी तक आपके समक्ष कही। जितना मैंने कहा उतना ही उनका जीवन था या उतनी ही उनकी देशना थी, ऐसा मत समझना। वह तो एक विराट व्यक्तित्व था, जिसमें से मैंने कुछ किरणों को पकड़ने की कोशिस की है, जिनका आधार परम्परा एवं मेरी अपनी चेतना की जागृति रही है। उस व्यक्तित्व के अन्य आयाम भी उद्‌घाटित हो सकते हैं। क्योंकि उसका अस्तित्व ही अनेक धर्मा था। अनेकान्त की पूर्ण शिक्षा के लिए स्वयं महावीर के जीवन को समझ लेना ही पर्याप्त है। आप सबने जितना जागृति के क्षणों में ग्रहण किया हो महावीर के जीवन को, उनकी देशना को उससे अपनी कला को सार्थक करना। यद्यपि उनकी अनुकृति करना चाहे जीवन में हो अथवा कला में सम्भव नहीं है। क्योंकि वे अप्रतिम थे। कोई तुलना नहीं उनकी चेतना की। फिर भी दीप से दीप जलता है। अतः उनकी आत्मा से, उनके जीवन से प्राणियों की चेतनाएं प्रज्वलित हो सकें ऐसा कुछ तुम सब अपनी कला द्वारा अवश्य करना। अब मुझे आखिरी विराम

लेने की आज्ञा दें।'

'आचार्यप्रवर! हमारी भी यह आखिरी जिज्ञासा और विनम्र प्रार्थना है कि जिस प्रकार आपने अतीत से साक्षात्कार कर महावीर के जीवन व उनके दर्शन को विविध आयामों में उद्घाटित किया, उसी प्रकार आपको भविष्य की स्थितियों से भी परिचित होना कठिन नहीं है। गुरुदेव! आगामी एक हजार वर्षों में, ईसा की उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी तक जगत् की क्या परिस्थितियाँ होंगी एवं क्या होगी महावीर की देशना की व्याख्या, उपयोगिता? मेरा मन जानना चाहता है आचार्य! इसके समाधान के बाद आप विराम लें तो जगत् का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। हमारी कला को अमरत्व मिल जायेगा।'

प्रश्न की गुरुता एवं उपयोगिता का अनुमान कर समस्त शिल्पी-संघ चिंतित हो उठा। यह क्या पूछ लिया देवी कनकप्रभा ने? परीक्षा ले रही है क्या आचार्यप्रवर की? किन्तु जैसे ही उन्होंने आचार्य के मुखमण्डल की ओर देखा वे सब आश्वस्त हुए। वहां वही सौम्यता थी, वही शान्तभाव जो कथा प्रारम्भ करने के पूर्व थी। क्षणभर बाद आचार्य बोल ही पड़े—

'आयुष्मति कनकप्रभा! तुम्हारी चेतना इतनी करुणा पर उतर आयेगी, मुझे अनुमान नहीं था। मैं भविष्य के सम्बन्ध में क्या कह सकता हूँ, अभी कह पाना कठिन है। फिर भी तुम्हारी जिज्ञासा अतृप्त न लौटे इसका मैं प्रयत्न करूंगा। कुछ दिन मुझे चिन्तन को बटोरने का अवकाश दें। तब तक आप सब भी शान्त हो लें। फिर मैं इस सम्बन्ध में अवश्य कुछ कहूंगा। मैं क्या कहूँगा, तीर्थङ्कर महावीर की चेतना ही प्रकाशित होगी। वही समर्थ है— अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानने में।'

शिल्पीसंघ एक अपूर्व उत्साह और आशा की किरणें लिये वहां से विसर्जित हो गया। रह गये आचार्य कश्यप। आत्मा के गुणों के दृष्टा, ज्ञाता। भविष्य की स्थितियों को संजोते हुए।

••

३१. अनागत

आयुष्मति कनकप्रभा की अन्तिम जिज्ञासा को जन्म लिए आज तेरहवां दिन था। आचार्य कश्यप इतने दिनों में निरन्तर आगामी शताब्दियों के प्रथम दशक में होने वाली प्रमुख घटनाओं, परिवर्तनों एवं मानवीय प्रवृत्तियों की जानकारी को संजोते रहे हैं। व्यक्ति के वर्तमान रूप को देखकर जैसे उसके अतीत एवं अनागत में प्रवेश किया जा सकता है उसी प्रकार आचार्य ने स्वयं समय के अनागत को पकडने का प्रयत्न किया है। जब कुछ कहने लायक उनके पास हो गया तो उन्होंने आज शिल्पीसघ को पुनः एकत्र होने का आदेश दे दिया है।

शिल्पीसंघ के साथ देवी कनकप्रभा अपने प्रश्न के समाधान के प्रति इतनी उतावली थी, उत्कण्ठित कि वह समय से पूर्व ही उस स्थान पर आ बैठी है जहां आज आचार्य को कथा का समापन करना है। अपरान्ह का समय है। फिर भी धूप अच्छी लग रही है। अतः कलाकार मैदान में ही बैठ गए हैं। आचार्य के आने की प्रतीक्षा है, जिन्हें चित्रांगद बुलाने गया है। कुछ क्षणों बाद आचार्य ने आते ही कहना प्रारम्भ कर दिया—

'भद्र ! समय के इस अन्तराल के उपरान्त आप सब प्रसन्नता से भरे नजर आ रहे हैं। महावीर की कथा ही ऐसी है जो पूर्णता की ओर ही ले जाती है। आप इस क्षेत्र में और आगे बढ़ें यही आकांक्षा है एक कुलपति की। विसर्जित होती हुई पीढ़ी की।'

'आयुष्मति कनकप्रभा की जिज्ञासा से आप सब परिचित ही हैं। उसी परिप्रेक्ष्य में मैं कुछ कहूंगा। आगामी एक हजार वर्षों का समय संघर्ष और तनाव की स्थिति से गुजरेगा। गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति का इतना विकास हो चुका है कि अब उसे पुनः अवनत होने में पर्याप्त समय लग जायेगा। यह काल संस्कृति की अवनति का ही होगा। हम संधिकाल में खड़े

हैं। आप परिचित हैं कि इस्लाम का प्रवेश हमारे देश में प्रारम्भ हो गया है। अभी इस्लामी व्यापारी आये है। धीरे-धीरे शासकों का तांता लग जायेगा। यह दो संस्कृतियों का मिलन प्रत्येक क्षेत्र में तनाव उपस्थित करेगा। अतः देश की शक्ति विभाजित हो जायेगी। लोग टुकड़ों मे जियेंगे। ऐसी स्थिति में उत्तर भारत में श्रमणधर्म के विकास की सम्भावनाएं कम हैं। दक्षिण भारत में इसके अनुयायी बढ़ेंगे।

ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक आध्यात्म बहुत संकुचित हो जायेगा। उसमें जो परिश्रम एवं पुरुषार्थ का मार्ग है वह सूखने लगेगा। क्योंकि समाज इन बाह्य-शासकों से इतना भयभीत होगा कि अपने-आपको परमात्मा की शरण में छोड़ देगा। अतः भारतीय धर्म-दर्शन भक्ति की धारा मे बहेगा। प्रत्येक भक्त के अलग-अलग आराध्य होंगे। ऐसी स्थिति में जैन-धर्म अपनी मौलिकता से दूर होने लगेगा। क्योंकि उसमें आत्मा इतनी स्वतन्त्र है कि वह किसी के समक्ष समर्पण की बात नही सोचती। किन्तु समाज के बहाव मे जैनधर्म भी भारतीय जीवन-पद्धति के अनुरूप ढल जायेगा। भक्तिवाद, पूजा-उपासना इसमें भी सम्मिलित हो जायेंगे।

यद्यपि १६-२० वीं शताब्दी तक परिस्थितियों में बहुत अन्तर आयेगा। राजनीति, अर्थव्यवस्था एवं नैतिक मूल्यों का विकास होगा। भौतिक समृद्धि बढ़ेगी। उसके प्रति लालसा बनी रहेगी। व्यक्तिवाद का विकास होगा। गमनागमन के साधनों मे विकास और विदेशों से सम्पर्क बढ़ जाने से समाज में वह ऊँच-नीचता नहीं रहेगी जो अभी है। अतः इस युग में महावीर की एक बात तो यह पूरी होगी कि वर्गविहीन समाज का निर्माण होने लगेगा।

महावीर ने जो वैदिक क्रियाकाण्डों, यज्ञों की व्यर्थता का दिग्दर्शन किया है। इसमें अर्थव्यवस्था का असन्तुलन एवं हिंसा की जो बात उन्होंने कही है, वह आने वाले युग में अधिक गहराई से समझी जायेगी। अतः इस प्रकार के हिंसात्मक और खर्चीले यज्ञों का अभाव हो जायगा। उपासना व धार्मिक-अनुष्ठान की पद्धति अधिक सरल हो जायेगी। क्योंकि व्यक्ति के पास अवकाश बहुत कम रह जायेगा।

इस भौतिकवाद के युग में महावीर की बहुत-सी बातें पूरी होंगी जिनसे

देंगी। उन्होंने आत्म-स्वातन्त्र्य की बात कही है। हर व्यक्ति अपना रास्ता स्वयं बनाये। इस युग तक व्यक्तिवाद इतना बढ़ेगा कि व्यक्ति की जो योग्यता और प्रयत्न होंगे उन्हीं के अनुसार उसे सुख-सुविधा मिलेगी। कोई किसी का भार नहीं ढोयेगा। महावीर भी यही चाहते थे। किन्तु यह प्रगति सामाजिक-स्तर पर अधिक होगी, धार्मिकस्तर पर कम।

धार्मिकस्तर पर एक महत्वपूर्ण कार्य महावीर की दृष्टि से यह होगा कि समाज अनायास ही ईश्वर के हस्तक्षेप को अस्वीकार करने लगेगा। व्यक्ति के जीवन में पुरुषार्थ के प्रति लगाव होगा। किन्तु ईश्वर के विदा होने पर आध्यात्मिक स्तर पर जो प्रगति होनी चाहिए वह नहीं होगी। अपितु ईश्वर की दण्ड-व्यवस्था का भय और चले जाने से व्यक्ति मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र हो जायेगा। फिर भी उसका नियन्त्रण उसी के द्वारा होगा।

इस युग में एक क्रान्ति यह अवश्य होगी कि महावीर ने जिन बातों को धार्मिकस्तर पर कहा है, तत्वज्ञान की जो व्याख्या की है, विज्ञान की प्रगति से उसकी बहुत-सी बातें समर्थित हो जायेंगी। जीव और अजीव की पहिचान तथा उनके कार्य उस समय प्रयोग से सिद्ध किये जा सकेंगे। महावीर ने आत्मा को जो 'समय' कहा है, उस समय यह भलीभांति सिद्ध हो जायेगा कि किसी का भी अस्तित्व समयसापेक्ष ही है। इसी प्रकार अनेकान्त की बात जो महावीर ने कही है, उसे भी विज्ञान प्रमाणित करेगा कि वस्तु अनन्त-धर्मा है और हम उसके एक अंश को एकबार में जान पाते हैं। अणु के सम्बन्ध में जो सामान्य धारणा है कि उसे पूर्ण रूप से जान लिया गया है, उसमें भी परिवर्तन होगा। उसके भी अनेक धर्म प्रकट होंगे। महावीर ने गणित के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कहीं हैं, उनका सम्बन्ध इस युग में आकर विज्ञान के साथ जुड़ेगा।

महावीर ने तप के अन्तर्गत ध्यान की विशद व्याख्या की है। ध्यान के माध्यम से अपूर्व आनन्द की प्राप्ति बतलायी है। इसका इस युग में अधिक प्रचार होगा। भौतिकवाद से व्यक्ति जब ऊबने लगेगा तब वह आध्यात्म की शरण में ही आयेगा। भौतिकवाद जिस देश में जितना सघन होगा, वहां का व्यक्ति उतना ही अपरिग्रही होने लग जायेगा। सम्पत्ति का उसके पास मूल्य नहीं

रहेगा, कोई आकर्षण नहीं। अतः वह तनाव से मुक्ति पाने ध्यान में उतरेगा। यद्यपि बहुत दिनों तक महावीर ने जिन्हें गलत ध्यान कहा है उन्हीं का अनुसरण किया जावेगा। क्योंकि उनको करने से मूर्च्छा आयेगी, जो व्यक्तियों को मानसिक तनाव से मुक्ति देगी। यदि उन्हें सही ज्ञान की ओर परिवर्तित किया जा सका तो महावीर की धार्मिक प्रक्रिया अधिक विकसित हो सकेगी।

१९–२० वीं शदी में महावीर की दो विशेषताओं को यदि समझा गया और उनको अपनाया गया तो श्रमणधर्म के प्रचारित होने में देर नहीं लगेगी। महावीर ने अपने युग में विश्राम की स्थिति में तनाव की बात कही थी। लोग परमात्मा के हाथ में अपने को छोड़कर विश्राम कर रहे थे। महावीर ने पुरुषार्थ करने को कहा सो वे सफल हुए। इसी प्रकार इस तनाव के युग में यदि कोई ऐसी बात कही गयी जो व्यक्ति को शान्ति में ले जाय तो उसका आदर होगा। श्रमणधर्म की अनेक व्याख्याएँ समय-समय पर होती रही हैं। अतः इस युग में भी यदि महावीर के तत्वज्ञान, आचरण आदि को नई शब्दावली प्रदान की गयी तो अवश्य उसका जन-जीवन में प्रचार होगा। कुछेक आचार्य इस युग में ऐसे होंगे जो बात तो महावीर की ही करेंगे, पर उनकी व्याख्या नई होगी। और जिस प्रकार नये रास्ते पर चलने पर स्वयं महावीर को उनके युग ने बहुत बाद में समझ पाया, उसी प्रकार इन आचार्यों को इस परम्परा में ग्रहण करने में देर लगेगी। इससे इतना अवश्य होगा कि बीच के समय में श्रमणधर्म जो एक निश्चित सम्प्रदाय व वर्ग के दायरे में बंध जायेगा, उससे उसे इस युग में मुक्ति मिलेगी। इसके लिए आवश्यकता होगी लोकभाषा को अपनाने की।

जहां तक महावीर द्वारा कथित सिद्धान्तों की उपयोगिता की बात है, इस क्षेत्र में उनको बड़ी सार्थकता मिल सकेगी। कुछ ही बातों को लें। महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा इस युग के लिए अधिक उपयोगी हो सकेगी। यदि अहिंसा की परिभाषा केवल जीवों की हिंसा न करना तक ही सीमित रही तो इस युग में कोई कार्य न हो सकेगा। क्योंकि विज्ञान के माध्यम से इतने साधन विकसित होंगे कि क्षणभर में किसी भी देश को भस्म किया जा

सकेगा। अतः इस युग में अहिंसा की उस परिभाषा को विकसित करना पड़ेगा, जिसमें व्यक्ति दूसरे की बाधा न बने। इतना अनुपस्थित होकर अपनी प्रगति करे कि दूसरे की स्वतन्त्रता बाधित न हो। इससे विरोध की स्थिति ही न बनेगी, जो हिंसा का प्रमुख कारण है।

सत्य की परिभाषा यदि तत्वों के अन्वेषण के रूप में की गयी तो इस युग के जैसी सत्य की दूसरी प्रतिष्ठा नहीं होगी। क्योंकि यह युग विज्ञान का युग होगा, जिसमें उन सब सूक्ष्मताओं को जानने का प्रयत्न किया जायेगा, जिन्हें महावीर ने भेदविज्ञान के द्वारा जाना था। अन्तर केवल यह रहेगा कि महावीर ने जड़ और चेतन दोनों का तत्वानुवेषण किया था, इस युग में अचेतन द्रव्यों के विश्लेषण में होड़ लगेगी। एक सम्भावना यह हो सकती है कि विज्ञान की शक्ति का मोड़ किसी दिन चेतन के विश्लेषण की ओर भी हो सकता है, जिसमें महावीर का आत्मविज्ञान बहुत उपयोगी होगा। महावीर ने जो बहुचित्तता, एक व्यक्ति में अनेक चित्त, की बात कही है, उसका पूर्ण विश्लेषण इस युग में मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा हो सकेगा।

विज्ञान की जितनी प्रगति होगी, उतनी ही महावीर के सिद्धान्तों को नयी परिभाषा मिलने की आशा है। एक उदाहरण लें। महावीर ने कहा कि शरीर को जो सुख मानने की प्रथा चल पड़ी है, उसे संकुचित करना चाहिए। सुख मानने की यह धारणा इस युग में और अधिक बढ़ेगी। व्यक्ति अपने शरीर को वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा बहुत बड़ा कर लेगा। वायुयान द्वारा उसके पैर लम्बे हो जायेंगे। ध्वनियन्त्र उसकी बोलने की शक्ति को बढ़ा देंगे। दूरभाष जैसे यन्त्रों का आविष्कार उसके कानों की परिधि लम्बी कर देंगे। तथा दूर-अन्वीक्षक यन्त्र उसकी आंखों को हजार गुना बढ़ा देंगे। इस प्रकार इस युग के व्यक्ति का शरीर समस्त संसार से सम्बन्धित हो सकेगा। ऐसी स्थिति में उसकी इन्द्रियों की शक्ति का दमन करना सम्भव न होगा। हां, यह हो सकता है कि उसकी इन्द्रियशक्ति की दिशा बदल दी जाय। उसे आध्यात्म से जोड़ दिया जाय। ऐसा होने पर महावीर के युग में सीमित शरीर वाला साधक जितना कार्य करता था, उससे इस वैज्ञानिक युग का साधक अधिक लोगों को प्रभावित कर सकेगा।

'इस प्रकार आयुष्मति कनकप्रभा ! आगामी हजार वर्षों व उसके भी आगे महावीर की उपयोगिता के प्रति असंदिग्ध हुआ जा सकता है। यह बात अलग है कि प्रत्येक युग का श्रमणधर्म अपने नये स्वरूप में उपस्थित होगा। नये लोगों को प्रभावित करेगा। उसके साथ यही होता आया है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि महावीर जैसे व्यक्तित्व मुक्त होकर भी इस वातावरण में व्याप्त रहें। अतः जिस प्रकार वैज्ञानिक युग में ध्वनि एवं पदार्थ के स्वरूप को यन्त्रों द्वारा पकड़ा जा सकेगा, उसी प्रकार किसी माध्यम से यह भी सम्भव है कि महापुरुषों की किरणों को भी संकलित किया जाने लगे। यदि ऐसा हो सका देवी कनकप्रभा ! तो जगत् के साथ बहुत बड़ा उपकार होगा विज्ञान का। वातावरण में व्याप्त आध्यात्म का।'

'आयुष्मान कलाकारों ! मैं नहीं जानता अनागत के सम्बन्ध में मुझे जो अनुभूति हुई है, वह कहां तक ठीक होगी। किन्तु इतना अवश्य लग रहा है कि महावीर के धर्म में जो एक वैज्ञानिकता और निष्कपटता है, यदि वह अन्त तक बनी रही तो यह धर्म प्रत्येक युग में क्रान्ति लायेगा। क्योंकि यह इसके स्वभाव में है। वैसे विकृतियों के आगमन की सम्भावना हर बदलती हुई परिस्थिति में होती है।'

अब मैं अपनी बात का उपसंहार कर इस कथा का समापन करना चाहूँगा। मैंने आप से महावीर के पूर्व की परम्परा की बात की, उसके तीर्थङ्करों के विशिष्ट गुणों की। पूर्वरंग के रूप में उन परिस्थितियों को भी हम जान सके, जिनमें महावीर जैसे व्यक्तित्व को जन्म देने की क्षमता थी। महावीर का जन्म, उनका शैशव, बचपन के विभिन्न प्रसंग, विवाह के प्रति उनकी निःसंगता एवं माता-पिता के प्रति उनके कर्तव्यों का दिग्दर्शन हमने कथा के प्रारम्भिक अंश में किया। यह सब विस्फोट महावीर के 'दर्शन' नामक विशेष गुण का था, जिसके माध्यम से वे संसार का दर्शन अच्छी तरह कर सके।

महावीर के अभिनिष्क्रमण से लेकर परमज्योति की प्राप्ति तक का समय उनकी ज्ञानोपलब्धि का काल है। 'ज्ञान' गुण का अर्थ है जगत् के पदार्थों का सम्यक्रूप से विश्लेषण। जीव एवं अचेतन की पृथकता का स्पष्ट

अनुभव। तथा स्वभाव की प्राप्ति का आनन्द। वास्तव में महावीर की ज्ञान-मीमांसा व्यक्ति के मानस का सूक्ष्म अध्ययन है।

महावीर के चरित्र का पूर्ण विकास उनके तपस्वी जीवन में हुआ। इसमें मैंने आपसे कहा है कि किस प्रकार उन्होंने सत्य के मिलने पर लोकवाणी में अपनी देशना दी, कितनी अन्य धर्मों को मानने वाली प्रतिभाओं ने महावीर के अस्तित्व एवं उनकी चिन्तता को नमन किया। महावीर के चतुर्विध-संघ व्यवस्था का वर्णन करते हुए मैंने आपसे यह बतलाया है कि महावीर ने कैसे श्रावक बनाने की कला को विकसित किया है। साध्वीसंघ के निर्माण द्वारा उन्होंने नारी को सम्मान दिया है। महावीर के करुणा के सम्बन्ध में भी आपने देखा कि वे घटनाओं की गहरायी तक कैसे पहुंचते थे। उनकी करुणा जीवन के सभी तलों पर व्याप्त थी। परम्परा से भिन्न चलकर भी वे परम्परा की अच्छाईयों का सम्मान करते रहे। परिनिर्वाण का चित्र मैं अधिक स्पष्ट नहीं कर सका। पता नहीं क्यों उसे कहते मेरी आंखें भर आती रही हैं।

शिष्य-परम्परा की बात कहते हुए मैंने व्यक्तिविशेष के नाम, उनकी तिथियां अथवा उनके दीक्षास्थलों आदि को ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं पकड़ा। क्योंकि महावीर गुरु एवं शिष्य इन दोनों स्थितियों में बडे निरपेक्ष-से थे। फिर भी उनके जो शिष्य हुए हैं, उनका योगदान तो मानना ही पडेगा। इस प्रसंग में महावीर की वाणी के साहित्य की चर्चा मैंने अधिक इसलिए नहीं की, क्योंकि वह महावीर को जानने का दूसरा रास्ता है। उससे हम चले नहीं। उनको अच्छी तरह जानकर ही उस पथ से गुजरा जा सकता है। दूसरी बात यह कि शास्त्र हमारे बीच उपलब्ध हैं, आप कभी उनका अध्ययन कर सकेंगे।

'महावीर की देशना में मेरा प्रयत्न उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को पकड़ना रहा है। अतः उनके सिद्धान्तों की क्रमवार चर्चा न करके उससे महावीर का कौन-सा रूप प्रगट होता है, उसे सामने लाया गया है। यद्यपि इस माध्यम से भी उनके भेद-विज्ञान, कर्म-सिद्धान्त, ज्ञानमीमांसा, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, पांच व्रत, गृहस्थ एवं मुनिधर्म, धर्म का स्वरूप, तपश्चर्या की व्याख्या, मोक्ष का स्वरूप आदि सिद्धान्तों का विवेचन हो गया है। और अभी मैंने महावीर को समसामयिक सन्दर्भ में भी रखकर देखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार

जो आपने प्रारम्भ में कहा था कि आचार्य, हमें आप महावीर की कथा बतायें तो हम अपनी कला का उसे विषय बना सकेंगे, सो मैंने अपना कार्य पूरा कर दिया। अपने उत्तरदायित्व की बात आप जानें।'

●●

३२. निष्पत्ति

'आचार्यप्रवर ! वह उत्तरदायित्व भी पूरा हो चुका है।'

'क्या कहते हो चित्रांगद ?'

'हां गुरुदेव ! कथा के प्रारम्भ में आप हमें गुहा तक ले गये थे। और दिखायी थीं उसकी दीवालों पर सूनी चित्तभित्तियां। सुश्री कनकप्रभा और उनके सहयोगी कलाकार पूर्णकलश के परिश्रम एवं मेधा की अनुकृतियां। आचार्य ! वे अब रंगों से भर गयी हैं। अनुग्रह करें, चलकर उन्हें देखने का।'

आचार्य कश्यप इस घोषणा से आश्चर्य से भर गये। तुरन्त उन्हें ध्यान आया कि वे इन १३ दिनों में गुहा के भीतर ही नहीं गये, इतने वे अपने भीतर थे। तो क्या इन कलाकारों ने अपनी क्षमता इन्हीं दिनों में प्रदर्शित कर दी? अवकाश का इतना सुन्दर उपयोग ? क्या होगा रूप मेरी कल्पना का ? यह सोचते ही वे उठ खड़े हुए। गुहा की ओर चल पड़े। शिल्पी-संघ ने उनका अनुगमन किया, जिसमें चित्रांगद आदि सबसे आगे थे।

गुहा के समीप पहुंचते ही चित्रांगद मार्गदर्शन करने लगा अपने जीवन के मार्गदर्शक का। गुहा में प्रवेश करते ही आचार्य प्रथम भित्तिचित्र के समीप रुक गये। चित्रांगद कला की सूक्ष्मता एवं रंगों का प्रयोग समझाने लगा शिल्पीसंघ को। आचार्य तो सब जानते ही थे।

'आचार्यप्रवर ! यह प्रथम चित्र माता त्रिशला द्वारा स्वप्न-दर्शन का है। ऊपर कोने में सर्वप्रथम हाथी का चित्र है। फिर क्रमशः वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, मालाएं, चन्द्र, सूर्य, क्रीड़ारत-मछलियां, कमल के पत्तों से ढका स्वर्णकलश, जलाशय, समुद्र, सिंहासन, देव का विमान, धरणेन्द्र भवन, रत्नराशि एवं निर्धूम अग्नि-ज्वाला के चित्र हैं। और इस दायीं ओर के कोने में देख रहे हैं आप रानी त्रिशला और राजा सिद्धार्थ के चित्र। त्रिशला अपने स्वप्न-दर्शन का फल पूछ रही हैं। गुरुदेव, यह है हमारी अतिथि कलाकार की कृति। देखा

आपने, सुश्री कनकप्रभा उस चित्र से भी आगे बढ़ गयी हैं इसमें जो अजन्ता की दूसरी गुहा में भगवान बुद्ध की माता के स्वप्न-दर्शन के रूप में है ? इसकी बारीकियां तो वही समझा सकेंगी, आगे आयें देवी कनकप्रभा।'

किन्तु कहाँ थी कनकप्रभा ? एक दूसरे चित्र के समक्ष दृष्टि जमाये हुए वह अपनी लज्जा और संकोच का वहन कर रही थी। बहुत कहने पर भी वह वहां नहीं आयी। अपनी कृति की समीक्षा कहीं स्वयं की जाती है ? वह भी गुरुदेव के सामने ?

'और यह है आचार्य, महावीर के जन्मोत्सव का मनोहारी दूसरा चित्र। देख रहे हैं इसमें माता त्रिशला की प्रसन्नता ? लगता है, अभी उठकर हमें जन्मोत्सव का मिष्ठान्न न बांटने लगें ? इधर लुटा रहे हैं खजाना राजा सिद्धार्थ। अमूल्यनिधि मिल जाने पर इसका क्या महत्व ? ये हैं, नगरवासी, राजभवन के परिजन। खुशी से इनके पांव ही जमीन पर नहीं पड़ रहे हैं।'

'यह तीसरा चित्र महावीर की आमलक क्रीड़ा का है। कितना भयानक है यह चित्र का सर्प ? और महावीर ? उनकी सौम्यता, बालभाव, तेजस्विता के निखार में तो कलाकार ने कमाल ही कर दिया है। बालकों के वस्त्रों की सजीवता देखिये गुरुदेव, फूंक मारने से कहीं उड़ने न लगें। कितना उल्लास भरा है इनके बचपन में।'

'इस चित्र की मैं क्या व्याख्या करूं गुरुदेव ! महावीर सब कुछ बिसार-कर अभिव्यक्ति की खोज में निकल पड़े हैं। देखिए ऐसे निसंग होकर जा रहे है, जैसे अभी वापिस आ जायेंगे। यह खड़ी है राजभवन के गवाक्ष पर उन्हें निहारती हुई माता त्रिशला। निहारना जैसा लग रहा है। अश्रु भरे नयनों से वे देख कहां पाती होंगी ? कोई मां, अपने लाड़ले को इस तरह जाता हुआ नहीं देख सकती। पिता सिद्धार्थ ये इस ओर खड़े हैं। राजभवन के द्वार पर। सोच रहे हैं—वर्द्धमान क्या सचमुच जा रहा है ? या अभी खेलकर लौट आयेगा ? आचार्य, उनकी व्यथा वे ही जानें, किन्तु इन नगरवासियों की व्यथा तो उनकी मुखाकृतियां ही प्रगट कर रही हैं।'

'भद्र चित्रांगद ! आप कब इतने निमग्न थे कथा में ? एक-एक शब्द को उतारकर रख दिया है इन चित्रों में। किसने बनाया है यह चित्र ?'

'प्रिय श्रीकण्ठ, पीछे क्यों छिप रहे हो ? आचार्य तुम्हें इस चित्र का दण्ड देने नहीं बुला रहे हैं ।'

'आचार्य, यह है—महावीर के अभिग्रहपूर्ति का चित्र । वे जगत् की परीक्षा ले रहे हैं अथवा जगत् उनकी, इस चित्र से स्पष्ट हो जायेगा । चित्र के एक ओर ये कौशाम्बी के नागरिक हैं, महावीर के भूखे लौट जाने के कारण दुखी, चिंतित । और दूसरी ओर यह चित्र है चन्दनबाला और महावीर का । कौन किसको क्या दे रहा है, यह उनके मुख के भाव ही बता रहे हैं । उन्हीं नागरिकों की मुखाकृतियां इधर देखिये, कैसे कमलों जैसी खिल गयी हैं । महावीर को आहार मिल जाने से ।'

'इस चित्र में यह है ऋजुकूला नदी का तट, जहां ये ध्यानमुद्रा में हैं भगवान महावीर । परमज्योति उनको प्राप्त हो चुकी है, उसका प्रतीक है यह प्रभामण्डल एवं पृष्ठभूमि में उगता हुआ सूरज । हासिये पर देख रहे हैं आचार्य ! यह काली पट्टी । लगता है समस्त अज्ञान अन्धकार के रूप में यहां आकर सिमिट गया है ।'

'ये एक तरफ के छह चित्र पूरे हुए । जैसे छह बाह्य तपों की साधना हो गयी है । अब आप इस तरफ पधारें, गुहा की दूसरी भित्ति पर ।'

'यह सातवां चित्र महावीर के प्रथम समवसरण का है । कथा सुनते समय यह कल्पना नहीं थी कि समवसरण इतना सुन्दर सभामण्डप होता होगा । लगता है कलाकार में कुबेर का वास रहा होगा । कितनी सुन्दर संरचना की है । यह खड़ा है बटुकरूपी इन्द्र, इन्द्रभूति गौतम के साथ । ऊपर गंधकुटी पर विराजमान हैं भगवान महावीर । केवलज्ञान से इतनी दीप्त आ जाती है व्यक्तित्व में यह इनके चित्र को देखकर ही पता चलता है ।'

'इसके पार्श्व का यह चित्र महावीर के गणधरों का है । प्रतीत होता है सारी प्रज्ञा यहां आकर केन्द्रीभूत हो गयी है । इसी क्रम में ये दो चित्र केशी-गौतम संवाद एवं गोशालक और महावीर के मिलन से सम्बन्धित है । इस चित्र में देखिये आचार्य, कलाकार ने किस प्रकार गोशालक की तेजोलेश्या की ज्वलनता का अंकन किया है । उसी अनुपात में सामने हैं शीतलता के प्रतीक भगवान महावीर । क्रोध और करुणा का कितना सुन्दर अंकन ।'

'यह ग्यारहवां चित्र महावीर की चतुर्विध संघ-व्यवस्था का है। श्रावक, श्राविका, साधु एवं साध्वियों की कितनी सुन्दर भावपूर्ण आकृतियां हैं। लगता है यहां आकर महावीर की चेतना, दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र इन चारों की पूर्णता प्राप्त हो गयी है। अथवा एक आत्मा ही इन चार रूपों में विकसित हो गयी है।'

'और यह अन्तिम बारहवां चित्र है महावीर के ध्यान का। उनके परि-निर्वाण का। महावीर कितनी सौम्य और शान्त मुद्रा में ध्यानस्थ हैं। पृष्ठ-भूमि में है पावा नगरी की अट्टालिकाएं। वे प्रतीक हैं इस बात की कि महावीर ने राजभवन, गृह-द्वार व संसार के होते हुए भी उसे पा लिया, जिसके लिए उनका जन्म हुआ था। उनके केवलज्ञान एवं परिनिर्वाण के प्रतीक के रूप में ऊपर चित्रित है—निर्धूम अग्नि। निर्मल शुद्ध आत्मा का पर्यायवाची।'

'आचार्य! यह है गुहा की सामने की भित्ति। अरे, आचार्यप्रवर, आप यहां बैठे-बैठे क्या देख रहे हैं? अच्छा, उस वाचाल श्रीकण्ठ ने कथा कहते हुए अपने आचार्यप्रवर का चित्र ठीक बनाया है या नहीं, यही निरीक्षण कर रहे हैं गुरुदेव। श्रीकण्ठ, कुछ भूल रह गयी हो तो आगे बढ़, आचार्य से क्षमा मांग ले। हमारे आचार्य ने भी महावीर की करुणा पायी है। क्यों देवी कनकप्रभा, ठीक कह रहा हूं न?'

कनकप्रभा बहुत पहले से आचार्य के मुखमण्डल में हो रहे परिवर्तनों को पकड़ रही थी। इस अन्तिम भाव को पकड़ती हुई वह कुछ भी कह पाने में असमर्थ हो गयी। चित्रांगद के सम्बोधन को सुनकर वह कुछ विक्षिप्त-सी होती हुई बोली—

'भद्र! और सब ठीक कह रहे हो, किन्तु जिसके सम्बन्ध में कह रहे हो वे आचार्य हैं कहां? आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान का यह उपदिष्टा आज प्रयोग से इसे समझा गया। बन्धु, देखो यह उनका मात्र शरीर रह गया है। उनकी आत्मा तो परमपद की यात्रा पर निकल गयी है।

यह कहकर कनकप्रभा ने आचार्य कश्यप के शरीर को जैसे ही हिलाया वह चित्रांगद की गोद में लुढ़क गया। शिल्पीसंघ चित्रलिखित-सा एक-दूसरे को निहारता रह गया। उनके न होंठ हिल रहे थे, न पलक झपक रहे थे।

मात्र उनकी चेतनाओं में संवाद हो रहे थे। महावीर के जीवन की प्राणवत्ता के सम्बन्ध में, उनकी कथा में डूबने की फलश्रुति के सम्बन्ध में तथा गुणों की राशि तीर्थंङ्कर महावीर की अतुलनीयता के सम्बन्ध में। ऐसे थे अप्रतिम तीर्थंङ्कर महावीर। चितेरों की आत्मा और कला के महावीर।

●●